प्राचीन भारत में कृषि-व्यवस्था–प्रारम्भिक काल से ६०० ई० तक

(AGRARIAN SYSTEM IN ANCIENT INDIA FROM EARLIEST TIME TO 600 A.D.)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि

हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

श्रीमती पूर्णेश्वरी द्विवेदी

पर्यवेक्षक

प्रो० बी० एन० एस० यादव

भूतपूर्व अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

दिसम्बर 1993

आभार

"प्राचीन भारत मे कृषि-व्यवस्था-प्रारम्भिक काल से 600 ई0" विषय पर शोध करने की प्रेरणा मुझे प्रो.बी.एन.एस.यादव (सम्प्रति अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) से मिली। उन्हीं के निर्देशन में यह कार्य सम्पन्न हुआ। प्रो0 यादव के मानदण्ड जितने कठोर हैं एवं उनका ज्ञान जितना गहन एवं व्यापक है उतना ही उनका व्यवहार एवं व्यक्तित्व सरल है। उनके अनवरत स्नेहपूर्ण निर्देशन के फलस्वरुप ही यह प्रबन्ध संभव हुआ। मैं स्पष्ट रुप से कहना चाहती हूँ कि इस शोध प्रबन्ध में जो भी अच्छा है मेरे गुरु का है और जितनी भी त्रुटियाँ हैं मेरी है। प्रो0 यादव के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ, किन्तु कृतज्ञता का ज्ञापन शब्दों द्वारा संभव नहीं है।

मैं अपने विभाग के अन्य गुरुओं के प्रति भी ऋणी हूँ जिनमें प्रो0 एस0 सी0 भट्टाचार्य सम्प्रति विभागाध्यक्ष, प्रो0 वी0 डी0 मिश्र, प्रो0 ओम प्रकाश, प्रो0 आर0 के द्विवेदी, डा0 जयनारायण पाण्डेय का विशेष उल्लेख आवश्यक हैं। मैं इलाहाबाद डिग्री कालेज के वरिष्ठ अध्यापक डा० आर० एन० पाण्डेय के प्रति विशेष रुप से अनुगृहीत हूँ जिन्होंने समय-समय पर महत्वपूर्ण परामर्श दिया है।

मै अपने माता - पिता एवं भ्राताओं का भी आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जिन्होंने आरम्भ से ही मुझे इस प्रबन्ध के लिये प्रेरित किया।

मैं अपने पति डा. पीयूष द्विवेदी की विशेष रुप से ऋणी हूँ जो इस कठिन कार्य के लिये मुझे निरन्तर उत्साहित करते रहे।

मैं उन समस्त लेखकों के प्रति आभारी हूँ जिनकी रचनाओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष रुप से इस प्रबन्ध में

उपयोग किया गया है।

परिवार के समस्त सदस्यों के प्रति एवम् विशेष रुप से अपनी सास श्रीमती शान्ति द्विवेदी तथा श्वसुर डॉ. डी. एन. द्विवेदी सम्प्रति विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र की ऋणी हूँ जिन्होंने शोध के लिए सदैव उत्प्रेरित, सचेत एवम् प्रोत्साहित किया।

अनुज चि0 जिज्ञासु मिश्रा ने बड़ी लगन एवम् तत्परता से शोध पांडुलिपि की कम्प्यूटराइज्ड प्रिंटिंग की है तथा देवर चि0 राजीव द्विवेदी ने अशुद्धियों का संशोधन किया है, स्नेह के पात्र हैं।

पूर्णेश्वरी द्विवेदी

पूर्णश्वरी द्विवेदी

अनुक्रमणिका

भूमिका

भूमिका

यह सर्वविदित तथ्य है कि प्राचीन भारत में वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन की परम्परा नहीं थी। अतः हमारे अध्ययन काल का प्रामाणिक अध्ययन अत्यन्त कठिन कार्य है। बाद में इस काल से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे गये किन्तु इनमें या तो सभी ऐतिहासिक पक्षों का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया या किसी एक पक्ष का ही विस्तार में अध्ययन हुआ। सर्वप्रथम 'बी.एच. बाडेन पावेल' ने **'लैण्ड सिस्टम ऑफ ब्रिटिश इंडिया'** लिखा जिसमें प्राचीन भारतीय भूमि व्यवस्था का सीमित अध्ययन प्रस्तुत किया गया। इसके पश्चात् 'यू.एन. घोषाल' की पुस्तक **'दि एग्रेरिम्रन सिस्टम इन ऐंशियण्ट इंडिया'** 1929 में प्रकाशित हुयी। परन्तु इस पुस्तक में मुख्य रूप से भू-राजस्व की व्यवस्थाओं का विवेचन है। इसके पश्चात् डा. आर. एस. शर्मा, डॉ0 लल्लन जी गोपाल, डॉ0 पी. नियोगी, डॉ. बी.पी. मजूमदार, प्रो. बी. एन. एस. यादव, प्रो. बोस, प्रो. मैती, प्रो. धुर्ये तथा अनेक अन्य इतिहासवेत्ताओं के ग्रन्थ एवं लेख प्रकाशित हुए। ये सभी रचनायें महत्वपूर्ण हैं और हमने अपने अध्ययन में इनका उपयोग किया है। किन्तु कृषि व्यवस्था अत्यन्त व्यापक व्यवस्था है और किसी एक कृति में इसका सर्वांगीण विवेचन नहीं हुआ है। वास्तव में कृषि व्यवस्था में भूमि का स्वामित्व और भोग, पट्टेदारी, बटाई, रेहन, दान, विभाजन, भूमि के प्रकार, फसलें तथा उनका प्रकार एवं विकास, सिंचाई की व्यवस्थायें, खाद, बीज, दुर्भिक्ष तथा अन्य हानियां, कृषि की तकनीकें, भू-राजस्व एवं अन्य कर तथा कृषि से सम्बन्धित सभी प्रकार के श्रम आदि सभी सम्मिलित है। इसके साथ ही कृषि एवं कृषकों से सम्बन्धित राज्य नीतियां एवं श्रमिकों की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति का विवेचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमारा उद्देश्य इन सभी प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए 600 ई. तक भारतीय कृषि व्यवस्था का सर्वांगीण विवेचन करना है।

इस विषय की ऐतिहासिक विवेचना के लिए परिकल्पनात्मक ऐतिहासिक व्याख्याओं से बचना आवश्यक है। आदर्शवादी इतिहासकार कुछ आध्यात्मिक सिद्धान्तों के आधार पर समग्र ऐतिहासिक विकास की व्याख्या करते हैं। दूसरी तरफ भौतिकवादी, विशेष रूप से मार्क्सवादी, इतिहासकार केवल आर्थिक सिद्धान्तों एवं वर्ग भेद के द्वारा सम्पूर्ण इतिहास को समझना चाहते हैं। हमारा उद्देश्य पूर्वाग्रहों एवं पूर्वमान्यताओं से बचते हुए उपलब्ध तथ्यों के आधार पर कृषि व्यवस्था का विकास प्रस्तुत करना है।

किन्तु वास्तविक कठिनाई ऐतिहासिक साक्ष्यों को प्राप्त करने की है। हमारे मुख्य स्रोत धार्मिक एव धर्मनिरपेक्ष ग्रंथ है। सर्वप्रथम हमारे समक्ष ब्राह्मण संस्कृति के ग्रंथ हैं जिनमें चारों वेद, उपनिषद, कल्प सूत्र, स्मृतियां, महाकाव्य (रामायण एवं महाभारत) तथा पुराण हैं। अन्य साहित्य में अर्थशास्त्र, कालिदास, बाण आदि कवियों की रचनायें हैं। इनके अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन ग्रंथ हैं जिनमें इन धर्मों का प्रतिपादन है। बौद्ध ग्रंथों में जातकों में समाज का अपेक्षाकृत अधिक वस्तुनिष्ठ विवरण प्राप्त होता है। इनकी भाषा (पालि) जनसाधारण की भाषा है। पर धर्म ग्रंथो वेदों, उपनिषदों, कल्पसूत्रों, स्मृतियों तथा रामायण एवं महाभारत में आदर्शों का प्रमुख महत्व है। ये सभी ग्रंथ समाज की वास्तविक स्थिति का चित्रण न करके ब्राह्मण संस्कृति के आदर्शों को ही मुख्य रूप से प्रदर्शित करते हैं। उदाहरण के लिए हम सुदृढ़ साक्ष्यों के आधार पर जानते हैं कि मौर्य काल के पूर्व से ही क्षत्रिय ही नहीं बल्कि ब्राह्मण, वैश्य, कायस्थ (बंगाल) एवं शूद्र राज्य थे। अनेक जन जातियां थीं जो वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत् नहीं थीं। शूद्र स्त्रियों के साथ अन्य वर्णों के पुरूषों का विवाह होता था। धनवान एवं शिक्षित शूद्रो के भी उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार सभी वर्णों के लोग कृषि, पशुपालन एवं व्यापार से संबंधित थे। सूत्रों को भी आपद्धर्म के रूप में इस स्थिति को मान्यता देनी पड़ी। युद्धों में ब्राह्मण एवं शूद्र भी भाग लेते थे। अतः इन ग्रंथों को भारतीय समाज का यथार्थ वर्णन करने वाला नहीं माना जा सकता। इनकी अपेक्षा जातकों एवं जैन ग्रंथों को वास्तविकता के अधिक निकट माना जा सकता है किन्तु इनमें भी धार्मिक प्रभाव का पूर्ण अभाव नहीं है। इस बात के भी प्रमाण नहीं हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृति पूर्णतः कर्मकाण्डी, आध्यात्मिक, पारलौकिक, वैराग्यवादी, मोक्षवादी एवं पलायनवादी थी। भारतीय दर्शन में आरम्भ से ही भौतिकवादी एवं सुखवादी प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी प्रकार विज्ञान एवं कला के क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति परिलक्षित होती हैं।

भारतीय इतिहास का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत विदेशी यात्रियों के विवरण हैं। पर विदेशी यात्रियों के विवरण भी या तो सुनी हुई बातों पर आश्रित हैं या धार्मिक प्रभावों से अतिरंजित। अतः इन दोनों स्रोतों को ध्यान से समझना आवश्यक है। निश्चित रूप से इनसे महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है किन्तु इस जानकारी को उपर्युक्त सन्दर्भ के साथ ही समझना चाहिए। उदाहरण के लिए अनेक ग्रंथों में 12 वर्षों तक चलने वाले दुर्भिक्षों का वर्णन है, किन्तु इसे काल्पनिक ही माना जा सकता है। संभवतः इसका उद्देश्य

शासकों को उनके कर्तव्यों की ओर ध्यान दिलाना था। इतिहास का तीसरा महत्वपूर्ण स्रोत उत्खनन से प्राप्त सामग्री, शिलालेख, अभिलेख आदि हैं। शिला लेख अशोक के काल तथा उसके बाद से मिलते हैं। गुप्त काल तथा उसके बाद से अनेक अभिलेख, दान पत्र आदि भी प्राप्त हुए हैं। पर इनमें भी तथ्यों के साथ प्रशस्तियां भी जुड़ी हुई हैं। इन्हें स्वीकार करते समय भी वांछित सावधानी आवश्यक है। उत्खनन इन सब से अधिक महत्वपूर्ण है। किन्तु दुर्भाग्य से सभी स्थानों पर उत्खनन संभव नहीं हुआ है एवं अनेक स्थानों में उत्खनन स्तर के नीचे निक्षेप रह गया है। तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के साक्ष्यों की परस्पर तुलनात्मक विधि के द्वारा ही प्रामाणिक निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

हमने प्रस्तुत प्रबन्ध को 6 अध्यायों में विभाजित किया है।

प्रथम अध्याय में भूमि का स्वामित्व, भूमि के प्रकार, भूमि की माप, भूमि का दान, भूमि का विभाजन तथा भूमि सर्वेक्षण आदि पर विचार किया गया है।

दूसरे एवं तीसरे अध्यायों में कृषि एवं कृषि तकनीकों का विवेचन है। इसके अन्तर्गत् विभिन्न काल की फसलों, बीज, खाद, सिंचाई के साधनों, फसल को हानि पहुंचाने वाले तत्वों, दुर्भिक्ष, कृषि के उपकरणों आदि पर विचार किया गया है।

चौथे अध्याय में भू-राजस्व (मालगुजारी) का विवेचन है। कृषि प्रधान देश में कृषि ही आय का मुख्य साधन होती है। अतः सभी कालों में शासकों ने भू-राजस्व को महत्व दिया है। भू-राजस्व के साथ कृषक समाज को समय-समय पर अन्य अनेक कर देने पड़ते थे। इन पर भी विचार किया गया है।

कृषि व्यवस्था के कोई भी अध्ययन कृषकों एवं कृषि से संबंधित श्रमजीवियों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की उपेक्षा नहीं कर सकता। अतः **पांचवें अध्याय** में इस पक्ष पर विचार किया गया है।

छठां अध्याय हमारे अध्ययन का निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। इसमें उपरोक्त सभी पक्षों को समन्वित किन्तु संक्षिप्त रूप में स्पष्ट किया गया है।

अध्याय १
भूमि व्यवस्था

अध्याय-1

भूमि-व्यवस्था

भारतीय उपमहाद्वीप में आद्य ऐतिहासिक काल से कृषि के प्रमाण मिलते हैं। पुरातात्विक खोजों से सिद्ध होता है कि आरम्भ में कृषि व्यवस्था पाषाण एवं ताम्र-पाषाण उपकरणों पर निर्भर थी और फिर बाद में लौह उपकरण का प्रचलन हुआ। इस युग की विभिन्न सभ्यताएं हड़प्पा काल से पहले की हैं एवं इनके सम्बन्ध मे कोई लिखित सामग्री या जनश्रुति उपलब्ध नही हैं। पुरातत्व से हमें जो भी अभी तक ज्ञान मिला है उससे यही प्रतीत होता है कि जैसे जंगली पशुओं को पालतू बनाया गया वैसे ही वन्य फसलों को कृषि योग्य फसलों में परिवर्तित किया गया।सिंध और बलूचिस्तान की सीमा पर काफी दिनों से उत्खनन कार्य चल रहा है। यहीं पर बोलन नदी के किनारे मेहरगढ़ नामक स्थान से लगभग 5000 ई. पूर्व में कृषि जन्य गेहूं एवं जौ के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। परन्तु 5000 ई. पूर्व के स्तर के नीचे अभी निक्षेप है। जिसकी खोदाई अभी नहीं हो सकी हैं। अतः संभव है कि इस क्षेत्र में कृषि का आरम्भ 7000 ई. पूर्व में ही हो गया हो।[1] इससे प्रतीत होता है कि भारत का उत्तर पश्चिमी भाग गेहूं और जौ के मूल क्षेत्र थे। राजस्थान की एक झील के निक्षेपों मे अन्न-रज तथा काठ-कोयला प्राप्त हुआ हैं। इसकी तिथि 8000-7000ई.पूर्व मानी गई है।[2] श्रीनगर (कश्मीर)के निकट बुर्जहोम में संम्भव गेहूं और जौ की खेती की जाती थी जिसका समय 2500 वर्ष ई. पूर्व हैं। उत्तर प्रदेश में बेलन घाटी के कोलदिहवा स्थल से वन्य एवं कृषिजन्य दोनों प्रकार के चावल के साक्ष्य मिले हैं। इसका समय ई. पूर्व की छठी ओर पांचवीं सहत्राब्दी माना गया है। आसाम में भी कृषि उत्पादन के साक्ष्य ई.पू. सातवी शताब्दी से मिलते है। दक्षिण भारत में ई.पू. तीसरी शताब्दी की बाजरे की एक किंस्म का प्रमाण मिला है। इस प्रकार नवपाषाण युग से निरन्तर कृषि जन्य फसलो के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत के उत्तरी-पश्चिमी तथा मध्य भागों में कृषि का विकास हड़प्पा संस्कृति के बहुत पहलें ही हो गया था। राजस्थान के कालीबंगा क्षेत्र में हड़प्पाकालीन निक्षेप के नीचे हड़प्पा-पूर्व के जीवन-यापन के प्रमाण मिलते हैं। कमरों में अन्न रखने, खाना बनाने के चूल्हों तथा हल चलाने के प्रमाण मिले हैं। चना और सरसों के

प्रमाण भी मिले है।[3]

हड़प्पा या सिन्धु सभ्यता सिन्धु घाटी से लेकर राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, गंगा-यमुना का मध्य भाग और गुजरात तक फैली हुई थी। इस सभ्यता में चावल (गुजरात और राजस्थान), जौ के दो प्रकार, गेहूं के तीन प्रकार- कपास, खजूर, तरबूज, मटर तथा एक अन्य फसल ब्रासिका जुंसी के निश्चित साक्ष्य मिलते हैं। इस संस्कृति का काल ई.पू.2800 से ई.पू. 2000 तक माना जाता है। इस संस्कृति के पश्चात आरम्भिक ऋग्वैदिक युग तक अनेकों क्षेत्रीय संस्कृतियों के प्रमाण मिलते हैं और लगभग सभी में कृषि जन्य फसलें भी उपलब्ध होती है। किन्तु कृषि तकनीक में वास्तविक क्रान्ति लौह युग से ही होती है। उत्तर-प्रदेश के जिला एटा अतरंजीखेड़ा में प्राप्त लोहा ई.पू. 1050 का माना गया है। इसके पश्चात् लोहे की प्राप्ति के अनेकों प्रमाण मिलते है और लगभग इसी समय से उत्तर वैदिक काल प्रारम्भ होता है।

पूर्व वैदिक काल उपरोक्त कालों के पश्चात् माना जाता है। फिर इस काल में आर्यों का रहन-सहन कबायली संगठनों के समान प्रतीत होता है। इनके पहले ही नागर एवं कृषि प्रधान संस्कृतियां विकसित हो चुकी थी, पर आर्यो का जीवन मूलतः पशु पालकों एवं ग्रामीणों का ही था। इस विसंगति का संतोष जनक समाधान नही मिलाता। इस समय आर्य पशुचारण को ही मुख्य महत्व देते थे। 'गविष्टि' 'गवेषण' 'गव्य' 'गोषु' आदि शब्द युद्ध के भी द्योतक हैं। पशु ही इनकी मूल सम्पत्ति थे। बार-बार पशुओं की रक्षा एवं बृद्धि के लिये देवताओं से प्रार्थना की गई है। पशुओं की तुलना में कृषि का स्थान नगण्य था। ऋग्वेद में केवल थोड़े से ही श्लोकों में कृषि का उल्लेख है। मूल संहिता में तीन ही शब्द मिलते हैं। -- उर्दर, धान्य, वपन्ति।[4] 'कृष्टि' का प्रयोग हुआ है, किन्तु प्रायः लोगों के अर्थ में। इस काल में आर्य अपनी पशु सम्पदा को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते थे। संभवतः इसी कारण पशुओं एवं चारागाहों के लिये निरन्तर उन्हें युद्ध करना पड़ता था। इस समय राजा भी केवल अपने कबीले का मुखिया था एवं अन्य जनों के समान था। इस काल में पशु, रथ आदि के दानों का उल्लेख मिलता है, किन्तु भूमि के दान का नहीं। यह भी संभव है कि भूमि पर पूरे कबीले का स्वामित्व रहा हो। किन्तु

उपरोक्त व्याख्या इस मान्यता पर आश्रित है कि ऋग्वेद के मण्डलों में बहुत सी बातें बाद में जोड़ी गई है।

सत्य जो भी हो, उत्तर वैदिक काल में कृषि की प्रधानता पूर्णतः स्थापित हो गई थी, ~~कृषि की प्रधानता पूर्णतः स्थापित हो गई थी~~, कृषि में लौह उपकरणों का प्रयोग होने से एक क्रान्ति सी आ गई थी, आर्यों के जीवन में स्थायित्व आ गया था, वर्ण व्यवस्था का आरम्भ हो गया था एवं समाज में कृषि के अनुकूल अनेक परिवर्तन आ गये थे। राजा अधिक शक्ति शाली हो गया था। कृषि में तकनीकों के विकास के साथ मंत्रों एवं विविध संस्कारों का प्रयोग होने लगा था। ऋग्वेद के अन्तिम चरण तक आर्य कृषि की सभी क्रियाओं से परिचित हो गये थे। अथर्ववेद, यजुर्वेद, शतपथ ब्राम्हण आदि में कृषि की सभी क्रियाओं का वर्णन है। जिनका विवेचन हम आगे करेंगे।

भूमि नव्य पाषाण काल से ही मनुष्य के आर्थिक जीवन का मूल आधार रही है। यद्यपि समय-समय पर मनुष्य के आर्थिक कार्यक्रम उसकी आवश्यकताओं के अनुरुप घटते - बढ़ते रहे और कभी - कभी परिवर्तित भी होते रहे, परन्तु आर्थिक जीवन का आधार कृषि, पशुपालन तथा व्यापार निरन्तर बना रहा और इसका अत्यन्त गहरा समबन्ध भूमि से रहा। आर्थिक जीवन को प्रेरित और प्रभावित करने वाले ये तत्व आदि काल से लेकर वर्तमान तक बने रहे।[5]

आर्थिक जीवन का विकास भारतीय परिप्रेक्ष्य में क्रमबद्ध रुप से हुआ। पूर्व वैदिक युग के लोग जैसा कि पहले बताया गया है, मुख्य रुप से पशुपालन पर ही निर्भर थे। चूंकि उस समय के लोग एक स्थान पर न रह कर समूहों में अलग-अलग सुविधाजनक स्थलों को अपना निवास स्थान बनाते थे। अतः उनके लिये पशुपालन ही अत्यन्त उपयुक्त था, परन्तु धीरे-धीरे उन्होंने अपने निवास स्थल स्थायी करने का प्रयत्न किया। ऋग्वेद में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे विदित होता है कि आर्यों ने अपने पायावरी जीवन को स्थायी निवास बनाने के लिए अनार्यों से युद्ध किया।[6]

वैदिक जीवन में 'आर्य विश्' और 'कृष्टि' नामक दो वर्ग हो गए- प्रथम- अभिजात्य वर्ग और द्वितीय- साधारण वर्ग।[7] कालान्तर में अभिजात्य वर्ग के अर्न्तगत 'ब्राहमण' और 'राज्यन्य' आ गए तथा साधारण वर्ग में कृषि कला तथा व्यापार आदि से सम्बन्धित लोग आ गए। आर्यों द्वारा अपनी आर्थिक

स्थिति सुदृढ़ कर लेने के परिणामस्वरुप न केवल आर्य स्थायी निवासी हो गए वरन् यहाँ के मूल निवासियों की भूमि छीन कर उन्होंने उस पर अधिकार कर लिया और एक सुव्यवस्थित और सुसंगठित आर्थिक आधार की नींव रखी और पराजित लोगों को दास बना लिया।[8]

आर्यों द्वारा एक नवीन आर्थिक आधार प्राप्त करने के परिणामस्वरुप आर्यों की नई - नई बस्तियाँ बसने लगी। धीरे - धीरे छोटे - बड़े ग्राम और बाद में बड़े - बड़े नगर भी विकसित होने लगे। उत्तर वैदिक काल तक आते - आते कृषि और उससे उत्पन्न विविध अन्न उनकी आजीविका के साथ - साथ उनके आर्थिक जीवन का मुख्य आधार बन चुका था।[9] वेदों में वणाश्रम व्यवस्था की व्याख्या पुरुषार्थ की अवधारणा से अवियोज्य रुप से जुड़ी थी। पुरुषार्थों में अर्थ का केन्द्रीय स्थान था। रामायण, महाभारत स्मृतियों तथा अर्थशास्त्र ने अर्थ को संसार का मूल माना है। प्राचीन काल में अर्थोपार्जन की विधियों को 'वार्ता' माना गया है और इसके अन्तर्गत् कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य को रखा गया था। वार्ता से ही संसार का पोषण एवं कल्याण होता है। अतः इसे अवश्य धारण करना चाहिए। 'वार्ता' से राजा अपनी सम्पत्ति में वृद्धि करता है और शत्रुओं को परास्त।[10] 'वार्ता'के विषयो में पशुपालन जब मुख्य न रहा और कृषि प्रधान हो गयी गयी तब कृषि योग्य भूमि का विचार महत्वपूर्ण हो गया।

भूमि के प्रकार

प्राचीन वैदिक ग्रंथों में मुख्य रुप से तीन प्रकार की भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है - भवनों की भूमि, कृषि योग्य भूमि और चारागाह। ऋग्वेद में यह उल्लिखित है कि भवन को उसके स्वामी की व्यक्तिगत सम्पत्ति समझा जाता था तथा यह भी उल्लिखित है कि भवनो का स्वामी अपनी सुरक्षा और समृद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है।[11] ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर यह उल्लिखित है कि एक जुंवारी अपना सब कुछ खोकर दूसरे के मकान मं शरण लेता है और दूसरों के अच्छे मकान देख कर उसे बहुत दुःख होता है।[12] छांन्दोग्य उपनिषद में भी भवनों को निजी सम्पत्ति के रुप में उल्लिखित किया गया है।[13] ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर इसका उल्लेख है कि ग्राम के सभी पशु एक ही ग्वाले

को चराने हेतु दे देते थे।[14] आधुनिक विद्वान यू0 एन0 घोषाल के अनुसार ग्राम के समस्त निवासियों को चारागाह में अपने पशु को चराने का अधिकार प्राप्त था और चारागाहों को सामूहिक सम्पत्ति समझा जाता था।[15] कृषि के लिए उपयुक्त भूमि के लिए 'कृष्ट' और 'अकृष्ट' शब्दों का प्रयोग मिलता है। संभवतः कृष्ट भूमि उसे कहते थे जिसपर खोद कर या जोत कर बीज बोया जाता था। 'अकृष्ट' भूमि कृषि के योग्य नहीं थी। किन्तु कुछ भूमियो जैसे नदियों और झीलों के तट तथा जंगल में उगने वाले ब्रीज स्वतः होते थे। उपजाऊ भूमि को उर्वरा क्षेत्र आदि कहा जाता था। उर्वरा भूमि को नपें हुए क्षेत्रों (खेतों) में बॉट दिया जाता था।[16] अर्थवेद के अनुसार सर्व प्रथम पृथु ने मनुष्यों के कृषि कर्म करके कृषि करने का ढ़ंग बताया। ऋग्वेद के अनुसार देवताओं ने मनु को बीज बोने की कला सिखायी। हल चलाने वालो को "कीनास" कहा जाता था।[17] कालान्तर में कृषि योग्य भूमि का विभाजन देवमात्रक एवं अदेवमात्रक में किया गया। देवमात्रक भूमि पर कृषि बरसात पर निर्भर थी किन्तु अदेवमात्रक भूमि वह भूमि थी जिसमें नदी, झील, नहर आदि से सिंचाई की व्यवस्था थी। मनु स्मृति में "क्षेत्र"शब्द का प्रयोग किया है। कुल्लूक भट्ट (मनु.1.33) की व्याख्या के अनुसार क्षेत्र वह भूमि है जिसमें ब्रीहि आदि का उत्पादन होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका (11.158) में भी क्षेत्र को कृषि योग्य भूमि माना गया है। कुल्लूक के अनुसार "केदार" भी कृषि योग्य भूमि है।[18] "नाला" का अर्थ भी कृषि योग्य है।[19] ऊसर, सिलवास्तु, गोचर, बूज, गर्त, उद्देस, अनूप, जंगल, तृणयूति आदि शब्दो का प्रयोग ऐसी भूमि के लिए मिलता है जो कृषि योग्य नही थीं अथवा जिस पर कृषि नही की जाती थी। अष्टाध्यायी में जुती हुई भूमि को "हल्य" या "सीत्य" कहा गया है।[20] जैन साहित्य[21] में कृत्रिम साधनो से सींची जाने वाली भूमि को सेतु और वर्षा पर निर्भर भूमि को केतु कहा गया है। परवर्ती ग्रंथ अमरकोश मे बारह प्रकार की भूमि का उल्लेख है --

1. उपजाऊ (उर्वरा)
2. ऊसर (बंजर)
3. मरु (रेगिस्तान)

4. परती (अप्रहत)

5. शाद्वल (घासयुक्त भूमि)

6. कीचड़ (पैक्लि)

7. जल प्राय मनुपम (पानी भरा)

8. शर्करा (कंकरीली)

9. शर्करावती (रेतीली)

10. कच्छ (पानी के निकट की भूमि)

11. नदी मातृक (नदी से सिंचित भूमि)

12. देव मातृक (वर्षा के जल से सिंचित)[22]

नारद स्मृति में यह उल्लिखित है कि जिस भूमि पर एक वर्ष से खेती न की गई हो वह 'अर्द्धखिल' कहलाती है, और तीन वर्ष वक खेती न की जाने वाली भूमि को 'खिल' कहा जाता है तथा वह भूमि जिस पर पाँच वर्ष से खेती न की गई हो 'वन' कहलाती है।[23] अमरकोश में खेती की जाने वाली भूमि को 'क्षेत्र' कहा गया।[24] 'अप्रहत भूमि' का भी उल्लेख 'खिल' के साथ ही प्राप्त होता है। आधुनिक विद्वान सचीन्द्र कुमार मैती के अनुसार, संभवतः खिल वह भूमि थी जिसमें पहले कृषि कार्य होता था और अप्रहत बंजर भूमि (कभी खेती नही की गई हो) को कहा जाता होगा।[25] अनेक प्राचीन अभिलेखों में 'अप्रदा' भूमि का भी विवरण प्राप्त होता है। आर0 जी0 बसाक 'अप्रदा' भूमि के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि यह वह विवादास्पद भूमि थी जो अभी किसी को नहीं दी गई।[26] प्राचीन कालीन अभिलेखों में पाँचवीं और छठी शताब्दी में बंगाल में तीन प्रकार की भूमि बिक्री के लिए होने का उल्लेख प्राप्त होता है - भवन निर्माण वाली भूमि, कृषि कार्य वाली भूमि और जिस पर बहुत दिनों से खेती न की गई हो अर्थात् बंजर भूमि। इस आधार पर सचीन्द्र कुमार मैती ने भूमि के पाँच प्रकारों का उल्लेख किया है - भवन की भूमि, चारागाह, कृषि योग्य भूमि, परती भूमि तथा वन अर्थात बाग- बगीचे।[27] अतः हम

कह सकते हैं कि प्राचीन वैदिक युग से भूमि का समायानुसार विभिन्न प्रकारों में विभाजन किया गया है और महाकाव्यों एवं अर्थशास्त्र में नवीन भूमि को कृषि योग्य बनाने की परामर्श दी गयी है।

2. भू-स्वामित्व

भूमि के प्रकारों का विवेचन करने के पश्चात् एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि भूमि पर किसका अधिकार था। भू - स्वामित्व के प्रश्न पर इतिहासकारों ने तीन प्रकार का मत व्यक्त किया है और तीनों मतों के पक्ष में तत्सम्बन्धित ग्रन्थों में पर्याप्त प्रमाण भी मिलते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार भूमि पर राजा का स्वामित्व था जबकि कुछ इतिहासकारों के अनुसार भूमि पर व्यक्ति या समूह का स्वामित्व होता था। प्राचीन काल में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि भूमि पर सम्मिलित स्वामित्व होता था। पाश्चात्य इतिहासकार कैम्पबेल और मेन के मतानुसार, भूमि पर स्वामित्व पारम्परिक ग्राम बिरादरी का था।[28] एच. एच. बिल्सन ने भी भूमि पर सामूहिक स्वामित्व के आस्तित्व को स्वीकार किया है।[29] भारतीय विद्वान डॉ0 सॉंकलिया ने सन् 181 ई0 के एक क्षत्रप अभिलेख में 'रसोपद्रग्राम' की चर्चा की है।[30]

उपरोक्त विद्वानों के उल्लेखों तथा समकालीन अन्य ग्रंथों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि, वैदिक युग में भूमि पर व्यक्तिगत और सम्मिलित स्वामित्व का विकास क्रमबद्ध रुप में हुआ। उस समय आर्य भारत में आकर अपना विस्तार कर रहे थे तथा विभिन्न प्रकारों से भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार के अतिरिक्त समहों में बँटे रहने के कारण भूमि पर उनका समूहगत अधिकार भी था। इस मत का समर्थन मजूमदार भी करते हैं।[31]

इस प्रकार भू - स्वामित्व के विकास में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का योग रहा। सिद्धान्त रुप में तो भूमि पर राजा का स्वामित्व दिखाई पड़ता है, क्योंकि राजतंत्र के उत्कर्ष के कारण साम्राज्य का विस्तार हुआ और साथ - साथ विजित भू - भाग पर उसका अधिकार स्थापित हुआ। समय - समय पर उसमें भूमि तथा गाँव आदि ब्राहमणों, विद्वानों, मन्दिरों और बिहारां आदि को प्रदान

किए जो यह प्रकट करता है कि भूमि पर राजा का अधिकार था। व्यवहारिक पक्ष के अनुसार भी भूमि अलग - अलग व्यक्तियों के अधिकार में थी जिसका वे स्वतंत्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार आदान - प्रदान और क्रय - विक्रय कर सकते थे तथा स्वअधिकृत भूमि का उपयोग स्वतंत्रता से कर सकते थे। इस प्रकार भू - स्वामित्व सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों ही तत्वों से प्रभावित होता रहा, परन्तु जिस प्रकार साम्राज्य की समस्त वस्तुओं का स्वामी राजा होता था, उसी प्रकार भूमि भी राजा के अधीन रहती थी और कृषक उसका व्यक्तिगत उपयोग करते थे। आधुनिक इतिहासकार लल्लन जी गोपाल का मत है कि, "सैद्धान्तिक आधार पर प्राचीनकाल से पूर्व मध्ययुग तक भूमि पर राज्य के स्वामित्व को ही स्वीकार करने वाले शास्त्रकार रहे हैं किन्तु इसके विपरीत मीमांसा जैसे विचारक भी रहे है, जिन्होने भूमि पर कृषक के स्वामित्व को स्वीकार किया है। साम्राज्य की सभी वस्तुओं पर राजा का प्रधानतः स्वामित्व माना जाता था तथा समय और परिस्थितियों के अनुरुप उसे अपना भाग प्राप्त होता था, साथ ही भूमि पर साधारणतः कृषक अपना अधिकार समझता था और अपने अनुसार भूमि का उपयोग करता था। इस प्रकार भूमि पर एक साथ दोनों प्रकार के स्वत्व दर्शित होते हैं।[32]

भू - स्वामित्व और शासक

अधिपतियों द्वारा बड़े - बड़े राज्यों की स्थापना तथा दिग्विजय के परिणामस्वरुप भूमि पर उनका अधिकार और दृढ़ हुआ। इस प्रकार राजतन्त्र के प्रसार और विकास से राजा के अधिकार क्षेत्र तथा प्रभाव में व्यापक वृद्धि हुई। जैसा कि प्राचीनकाल के महान अर्थशास्त्री कौटिल्य का मत है कि --

"यथेष्टमनवसित भागं दद्युरन्यत्र कृच्छ्रेभ्यः।
स्वसेतुभ्यो हस्त प्रावर्तितमुदक भागं पंचमं दद्युः।
अकृषतामिच्छ्रधान्येश्यः प्रयच्छेत।
ग्रामभृतवैदेहकावाकृषेयुः।
अकृषन्तोऽपहीनं दद्युः।।"[33]

अर्थात राजा भू-कर के साथ - साथ जल कर भी प्राप्त करने का अधिकारी था। कृषि कार्य करने के लिए राज्य की ओर से भी भूमि प्रदान की जाती थी। अगर उस व्यक्ति से कृषि ठीक से नहीं हो पाती थी तो उस व्यक्ति से भूमि लेकर दूसरे को दे दी जाती थी। अगर कोई दूसरा किसान उस भूमि को लेने वाला मिलता तो वह भूमि गाँव के मुखिया अथवा किसी वैश्य को दे दी जाती थी जो उस भूमि पर खेती करता था। मेगास्थनीज के ग्रन्थ के आधार पर डायोडोरस तथा स्ट्रेबों ने लिखा है कि भारत में सभी भूमि राजा की होती थी। नीलकंठ शास्त्री का मत है कि भूमि को नियन्त्रित करने का पूरा अधिकार राजा को था (मौर्य काल में) इसीलिए मेगास्थनीज का मत था कि भूमि का स्वामी राजा होता था।[34] फाह्यान[35] और ह्वेनसांग[36] ने भी राज्य की भूमि को राजकीय भूमि लिखा है। परन्तु यह मत संभवतः चीनी व्यवस्था से प्रभावित है। विवाद की भूमि अधिकारी रहित भूमि पर राजा के अधिकार से यह सिद्ध होता है कि समस्त भूमि राजा की थी। बूच[37] अर्थशास्त्र के टीकाकर आचार्य भट्ट स्वामी के अनुसार -

"राजा भूमैः पतिर्दृष्टः शास्त्रज्ञैरूदकस्य च।
ताम्यामन्यत्र यद्व्यं तत्र स्वाम्यं कुटुम्बिनान।।"[338]

अर्थात्-भूमि और जल दोनों पर राजा का स्वामित्व होता था।इन दोनो को छोड़कर लोग अन्य किसी भी वस्तु पर अपना स्वामित्व प्रदर्शित कर सकते थे। मनु ने भी भूमि पर राजा के अधिकार को स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया हैं कि-

"निधीनां तु पुराणानां धातुनामेव च क्षितौ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः।।[39]

अर्थात- पृथ्वी में गड़े धन का आधा भाग राजा प्राप्त करे, क्योंकि वह पृथ्वी का स्वामी है।

इस प्रकार कौटिल्य, भटट स्वामी और मनु आदि ने राजा को भूमि का स्वामी माना है। महाभारत में भी राजा को सम्पत्ति का स्वामी माना गया है। कालान्तर में मनुस्मृति पर टीका लिखते हुए मेधातिथि ने भी राजा के भूमि पर स्वामित्व को स्वीकार किया है।[40] मध्यकाल में बारहवी शताब्दी के लेखक सोमेश्वर ने अपनी पुस्तक "मानसोल्लास" में भी मनु के विचारों के आधार पर राजा

के भूमि पर स्वामित्व का समर्थन किया है।[41] 3-प्राचीन काल के प्रसिद्ध विद्वान कात्यायन ने भी भूमि पर राजा के स्वामित्व को स्वीकार किया हैं।[42] 4- इस मत का उल्लेख मित्र मिश्र के प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजनीति प्रकाश, में-(राजाभूमः स्वामी स्मृतः)[43-R] और लक्ष्मीधर के ग्रंथ कृत्य कल्पतरु में भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार समय के अनुसार राजा का भूमि पर अधिकार बढ़ता ही गया था। कश्मीर के प्रसिद्ध कवि कल्हण के अनुसार-

"ईशो नृपाणां निःशेषक्षमाकेदरकुटुम्बिनाम् ।

स समास्त्रिशतं भूभृदनिस्त्रिशाशयोऽभवत् । "[44]

समस्त बसुन्धरा को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझने वाले नरेशों का शासक होते हुए भी अतिशय सौम्य प्रकृति के राजा प्रवरसेन ने पूरे तीस वर्ष तक पृथ्वी पर निष्कंटक राज्य किया।[45]

समय-समय पर राजा द्वारा भूमि पर लगाए जाने वाला कर भी भूमि पर उसके स्वामित्व को प्रमाणित करता है। और भूमि पर उपज का छठवां भाग उसें बराबर मिलता रहा। समस्त देश का अधिपति होने के कारण वह अनाज,सम्पत्ति,जल,वृक्ष आदि समस्त वस्तुओं का एकमात्र स्वामी तथा उनका उपभोग करने वाला था। आदिकाल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक विभिन्न राजाओं ने बड़ी संख्या में भूमि विद्वानो, पुरोहितों, मठों, मन्दिरों तथा शिक्षा संस्थाओं को दान में दिया, जिससे प्रकट होता है कि भूमि पर उसका अधिकार था। स्मिक, समद्दर ब्रलोर, हांपकिंस, बूलर आदि ने राजा के ही स्वामित्व को स्वीकार किया है। मनु और कौटिल्य ने प्राचीन काल में इसी मत को मान्यता दी थी।

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व

वैदिक युग से ही भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उल्लेख प्राप्त होता है। जो मुख्य रुप से कृषि योग्य भूमि पर ही होता था। ऋग्वेद में अपाला द्वारा अपने पिता की भूमि के सन्दर्भ में जो उल्लेख प्राप्त होता है। वह भू-स्वामित्व पर व्यक्तिगत अधिकार को प्रकट करता हैं।[46] उत्तर वैदिक युग के वेद,संहिता और उपनिषद् ग्रन्थों में व्यक्तिगत भूमि के स्पष्ट प्रमाण मिलते है।[47] उर्वरासा, उर्वरापत्ति,

उर्वराजित, क्षेत्रसा, क्षेत्रपति जैसे शब्दों के प्रयोग से भी व्यक्तिगत स्वामित्व ही सिद्ध होता है।

प्राचीन मनीषी जैमिनि ने यह मत प्रतिपादित किया है कि यह सत्य है कि भू-खण्ड दान करके किसी व्यक्ति को दिया जा सकता है। किन्तु सम्पूर्ण भूमि राजा द्वारा दान नही दी जा सकती है। इसी प्रकार राजकुमार द्वारा भी कोई प्रदेश या भू-खण्ड किसी को नही दिया जा सकता, मात्र उस परिस्थिति को छोड़ कर जब भूमि अथवा गृह उसके द्वारा क्रय किया गया हो।[48] 3-बौद्ध काल में भी भू-स्वामित्व पर व्यक्तिगत अधिकार सम्बन्धी अनेक उदाहरण समकालीन ग्रंथों में प्राप्त होते है। उस काल में व्यक्तिगत भूमि के स्वामी को 'खेत्तपति', खेत्तसामिक या वत्थुपति कहा जाता था।[49] जातक कथाओं में भी इस बात का स उल्लेख प्राप्त होता है कि उस समय भी कृषि योग्य भूमि की नपाई की जाती थी, 'अनाथपिंडक', अम्बपालि, तथा 'जीवक' द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति के रुप में भू-खण्ड और उद्यान दान में प्रदान किए गए थे। श्रावस्ती के व्यापारी सुदत्त (अनाथपिंडक) ने कुमार जेत का उद्यान 18 कोटि स्वर्ण मुद्राओं में खरीद कर भगवान बुद्ध के निवास के लिए अर्पित किया था। ये स्वर्ण मुद्रायें राजकुमार जेत की मांग के अनुसार उद्यान में बिछा दी गयी थीं। जो गाड़ियों पर लाद कर वहां लाई गई थीं।[50] जातक में कहीं-कहीं स्त्रियों द्वारा भी भू-खण्ड भिक्षुओं को दान में देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[51] मनुस्मृति में भी मनु के विचारो से यह प्रकट होता है कि मनु भी काफी हद तक व्यक्तिगत भुमि स्वामित्व का समर्थन करते थे। मनु के अनुसार -

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्या पुर्वविदों विन्दुः।

स्थाणुच्छेदस्य केदार माहुःशल्यावतो मृगम्।।[52]

अर्थात्-पुराविद् लोग इस पृथ्वी को पृथु की भार्या मानते है। खुत्थ (ठूठ पेड) काट कर तथा भूमि को समतल करके खेत बनाने वाले का खेत मानते हैं और पहले बाण मारने वाले का मृग। गौतम के अनुसार कोई व्यक्ति किसी वस्तु का स्वामी क्रय करने, दान में प्राप्त करने, बटंवारा करने से प्राप्त करने से होता है।[53] मनु के अनुसार, दान में प्राप्त, क्रय करने से प्राप्त, प्रयोग, (ब्याज) द्वारा प्राप्त, कर्म योग से प्राप्त अर्थात कृषि, व्यापार आदि से प्राप्त तथा सत्प्रतिग्रह (शास्त्रानुसार दान) से प्राप्त धर्म

सम्मत मानी जाती थी।[54] ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि मनु ने पहले भूमि पर राजा के अधिकार का समर्थन किया था। परन्तु व्यक्ति के हित में उन्होंने अपने पहले के विचार में कुछ संशोधन कर लिया था। मेधातिथि ने भी मनुस्मृति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि-

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेनृतं वदन्।

सर्वभूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृत वदीः।[55]

उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट है कि मेधातिथि भी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का समर्थन करते थे। यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि एक कृपण के पास पत्नी, गृह, धन और भूमि सम्पत्ति के रुप में थी जिसे अन्य लोग उपयोग करते थे।[56] 'सुभाषित रत्नकोश ' में भी पैतृक भू-सम्पत्ति का उल्लेख प्राप्त होता है।[57] इन साहित्यिक तथा अभिलेखों में विविध उल्लेखों से ज्ञात होता है कि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था। कुमारगुप्त के धानाइदह ताम्रपत्र लेख[58] के अनुसार उसके एक कर्मचारी ने एक ब्राह्मण को भू-दान किया था। भुवनेश्वर अभिलेख के अनुसार मडमदेवी ने लिंग राज मन्दिर में शिव की पूजन की व्यवस्था के लिए भूमि खण्ड दान में दिया था जो उसके एक वणिक से देवधर ग्राम में क्रय किया था। इसी प्रकार व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व के अन्य कई उदाहरण हैं। अतः समाज में भूमि व्यक्तिगत स्वामित्व के रूप में थी तथा इसके स्वामी को 'सत्क' कहा जाता था।[59]

भूमि और सामूहिक स्वामित्व

भूमि पर सामूहिक स्वामित्व आर्यों के भारत में आगमन के समय से ही प्रचलित था। जब धीरे-धीरे बड़े-बड़े नगर और राज्य बनने लगे और लोग छोटे-छोटे परिवारों में विभाजित होने लगे तब भूमि के स्वामित्व का स्वरुप भी सीमित होने लगा। धीरे-धीरे कृषि योग्य भूमि पर सामुदायिक स्वामित्व अर्थात सामूहिक स्वामित्व का सिद्धान्त विकसित होने लगा। ग्वालियर अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि सम्पुर्ण ग्वालियर के समस्त लोगों ने मिल कर एक ग्राम में पड़ा हुआ भूमि खण्ड और दो भूमि क्षेत्र मन्दिर को दान दिया था।[60] महाभारत के अनुसार, उत्तर कुरु और अति प्राचीन काल में कुरु देश में

पश्चिमी क्षेत्रों मे पट्टेदारी की रैयतवारी प्रणाली का प्रचलन था। गुप्त कालीन अभिलेखों में अनेक भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग भूमि धारण प्रणाली के सम्बन्ध में प्राप्त होता है, जैसे-नीवी धर्म[91], अक्षय नीवी धर्म[92], नीवी धर्म अक्षय[93], अप्रदा धर्म[94], अप्रदा नीवी धर्म[95] और भूमिच्छिन्द्र न्याय[96] आदि। अमरकोश में नीवी से तात्पर्य मूलधन से है।[97] दामोदरपुर ताम्रलेख (443-44) में भी नीवी धर्म पद का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।[98] इन दोनों प्राचीन स्त्रोतों के अध्ययन तथा विश्लेषण से नीवी धर्म का तात्पर्य मूलधन ही प्रतीत होता है। दामोदरपुर ताम्रलेख में यह उल्लिखित है कि कर्पटिक नामक एक ब्राहमण ने स्थानीय अधिकारी को इस आशय का प्रार्थनापत्र दिया था कि उसे नीवी धर्म के अनुसार ही कुछ परती भूमि क्रय करने की आज्ञा प्रदान की जाय।[99] जहाँ नीवी के साथ 'अक्षय' शब्द का भी उल्लेख प्राप्त होता है, संभवतः उसमें अर्थ तो वही है परन्तु उस मूलधन के कभी भी 'क्षय' न होने पर भी जोर दिया गया। इस प्रकार संभवतः 'नीवी धर्म क्षय' का अर्थ यही होगा कि नीवी धर्म को समाप्त करके उस भूमि खण्ड को किसी अन्य व्यक्ति को प्रदान कर देना। जैसे-धनाइदह ताम्रलेख, जो कि कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल का है, के अनुसार क्षुद्रक नामक स्थान शिवशर्मा और नागशर्मा के अधिकार में था। परन्तु बाद में 'नीवी धर्म' को समाप्त करके इस स्थान को वाराह स्वामी को दे दिया गया।[100] अर्थशास्त्र के रचयिता आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में अपने एक अध्याय का शीर्षक 'भूमिच्छिद्र विधानम्' लिखा है।[101] इस शीर्षक के अन्तर्गत आचार्य कौटिल्य ने कृषि योग्य तथा भवन योग्य भूमि के अतिरिक्त अन्य बहुत सी भूमि के प्रकारों का उल्लेख किया है। आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि 'भूमिच्छिद्र' भूमि उस भूमि को कहते है जिसमें कृषि कार्य नही हो सकती।[102] कौटिल्य के आधार पर ही बारनेट भी यह कहते हैं कि भूमिच्छिद्र भूमि से तात्पर्य ऐसी भूमि से है जिस पर कृषि कार्य करने वाले व्यक्ति को राजा जब चाहे हटा सकता है। परन्तु आधुनिक विद्वान यू0 एन0 घोषाल उपरोक्त कथन के विरुद्ध यह कहते हैं कि जैसे परती भूमि मे कृषि कार्य करने वाला कृषक उस भूखण्ड का वास्तविक स्वामी हो जाता था, उसी प्रकार 'भूमिच्छिद्र' भूमि प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी उस भूमि का स्वामी बन जाता था।[103] जबकि भण्डारकर महोदय यह मत व्यक्त करते हैं कि 'छिद्र' शब्द से तात्पर्य यह है कि राजा का अधिकार

किसी व्यक्ति की अपनी भूमि नही होती थी। गांव की समस्त कृषि योग्य भूमि के स्वामी गांव के सभी निवासी होते थे।[61] बौद्ध ग्रंथ दीर्घ निकाय में भी इसी प्रकार के कल्पित समाज का वर्णन मिलता है।[62] कुछ जातकों में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है कि कुछ खेत ग्रामो की सामूहिक सम्पत्ति होते थे।[63] पशुओं के चरागाह वाला स्थान तो निश्चित रूप से ग्राम की सामूहिक सम्पत्ति थी।[64] मनुस्मृति के अनुसार ग्राम के चारो ओर लगभग 600 फुट भूमि खण्ड ग्रामों की सामूहिक सम्पत्ति होती थी।[65] आचार्य कौटिल्य इस प्रकार की भूमि की माप लगभग 800 अंगुल बताते है।[66] कुणाल जातक के अनुसार उस समय अनेक जातियों और जनजातियों जैसे -शाक्यो और कोलियों के सामुदायिक खेत होते थे और वे सामूहिक रुप से उसका उपभोग करते थे। इन सामूहिक खेतों के स्वामी राज परिवार से भी सम्बन्धित होते थे। जो इन खेतों की देखभाल के लिए अधिकारियों, दास-दासियों और श्रमिकों की भी नियुक्ति कर रखी थी।[67]

आधुनिक विद्वान रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार ग्राम सभाएँ ग्राम की भूमि की स्वामिनी होती थी और सरकार को ग्राम की ओर से पूर्ण राजस्व देने का भी उत्तरदायित्व ग्राम सभा पर ही था। जब किसी अन्य परिस्थिति में कोई व्यक्ति अपना कर नहीं चुका पाता था तो वह भूमि ग्राम सभा की हो जाती थी और ग्राम सभा वह भूमि बेचकर उसका राजस्व सरकार को देती थी।[68] प्रसिद्ध विद्वान अल्तेकर के अनुसार, भूमि खण्डों के स्वामी व्यक्ति विशेष या परिवार के होते थे। राज्य गाँव की कृषि योग्य भूमि का स्वामी नही होता था।[69] आर0 जी0 बसाक के अनुसार भूमि का स्वामी ग्राम ही होता था। यदि राजा ही भूमि का स्वामी था तो दान देने के लिए उसे प्रजा के प्रतिनिधियों से परामर्श की क्या आवश्यकता थी ?[70] दान में देने पर भी एक प्राचीन कालीन अभिलेख धर्मादित के दानपत्र के अनुसार बिक्री मुल्य का छठवाँ भाग राजा को प्राप्त होता था।[71] जबकि आर0 जी0 बासक के अनुसार बिक्री मूल्य का 5/6 भाग ग्राम सभा को प्राप्त होता था।[72] इसलिए भूमि की वास्तविक अधिकारी ग्राम सभा ही प्रतीत होती है। अनेक प्राचीन मनीषियों ने भूमि पर स्वामित्व या अधिकार को स्पष्ट करने के लिए 'स्वत्व' शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु उस भूमि के अपयोग करने के सन्दर्भ मे उन्होने 'भोग' शब्द का प्रयोग किया है।

'नारद स्मृति' के अनुसार, यदि किसी व्यक्ति के परिवार ने तीन पीढ़ियों तक अथवा उससे अधिक काल तक उस सम्पत्ति का उपयोग किया है तो वह उस सम्पत्ति का स्वामी बन जाता था।[73] जबकि उपयोग के स्वामित्व की अवधि के प्रश्न पर भिन्न-भिन्न उल्लेख प्राप्त होते है। बृहस्पति, कात्याथन, विष्णु और नारद के अनुसार साठ वर्ष[74] याज्ञवल्क्य के अनुसार बीस वर्ष पश्चात[75] और मनु तथा गौतम[76] के अनुसार दस वर्ष तक व्यक्ति उस भूमि का उपयोग करने पर उसका स्वामी हो जाता था।

यद्यपि उपर्युक्त उल्लेखों से यही प्रतीत होता है कि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था जो सिद्धान्त ओर व्यवहार दोनों ही रुपों मे स्वीकृत था। परन्तु कभी-कभी एक से अधिक लोग मिलकर भी दान प्रदान करते थे। नासिक क्षेत्र के एक मौर्योत्तर कालीन अभिलेख में नासिकों द्वारा एक ग्राम-दान का उल्लेख है।[77] 'नासिकक' का अनुवाद 'नासिक के लोग' किया गया है। चूंकि यह ग्राम नासिकक कहे जाने वाले कुछ दाताओं द्वारा दान किया गया था अतः यह सम्भव है कि उस ग्राम पर सम्भवतः उन लोगों का सामूहिक स्वामित्व रहा हो। चन्द्रगुप्त द्वितीय के साँची के प्रस्तर अभिलेख के अनुसार, आम्रकार्दव नामक एक दाता ने पाँच व्यक्तियों के समक्ष दण्डवत कर (पचमण्लयां प्रणिपत्य) ईश्वर वासक नामक ग्राम दिया था।[78] फ्लीट के मतानुसार, पंचमण्डली आधुनिक काल मध्यस्थता से किसी समस्या का समाधान करने के लिए पंचायत या पंच की भाँति माना जा सकता है जो संभवतः सामूहिक स्वामित्व का ही एक प्रतिरुप हो सकती है।[79] उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जब से मेन और बाडेनपावेल ने स्वामित्व के विवाद को जन्म दिया आज तक इसका पूर्ण समाधान नही हो पाया है। हम देख चुके हैं कि सूत्र एवं स्मृति ग्रन्थों में स्वत्व एवं भोग में अन्तर किया गया है। भोग या कब्जा होने पर भी अधिकार के लिये कानूनी प्रक्रियाओं का पूरा होना आवश्यक है। मनु, गौतम, बौधापन, याज्ञवल्क्य - बृहस्पति आदि ने इस अन्तर को स्वीकार किया है। बहुत संभव है कि उसी भेद के कारण तीनों सिद्धान्तों के लिये साक्ष्य मिल जाते हैं। अर्थात् कब्जा एक का हो और स्वामित्व दूसरे का। किन्तु स्थिति इतनी सरल नहीं है। ऋग्वेद से लेकर आज तक व्यक्तिगत या पारिवारिक अधिकार के प्रश्न में अनेकों प्रमाण हैं। शास्त्रों के अनुसार व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का स्वेच्छानुसार उपयोग कर सकता है। अनेक जातकों में भी व्यक्तिगत

सम्पत्ति का उदाहरण प्रचुरता से उपलब्ध है। आपस्तम्ब - व्यास आदि ने पट्टेदारी का समर्थन किया है। कार्ले एवं नासिक के अभिलेखों से इसी मत की पुष्टि होती है। यह भी स्पष्ट है कि ब्रम्हदेय केवल राजकीय भूमि के सम्बन्ध में ही संभव था। व्यक्ति भी अपनी भूमि का दान कर सकता था। साथ ही यदि राजा ग्राम दान करता था तो दान पाने वाला केवल भूमिकर या मालगुजारी का ही अधिकारी था भूमि का नही। अतः स्पष्ट है कि भूमि पर आरम्भ से ही व्यक्तिगत अधिकार माना गया था।

3.भू-स्वामित्व और सामन्त

यह भी सत्य है कि मौर्य काल के पूर्व तक प्राचीन काल में राज्य के पदाधिकारियों को उनके व्यक्तिगत व्यय हेतु भूमि देने का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। ये राज्य द्वारा दी गई भूमि से कर वसूलते थे तथा कानून और व्यवस्था की स्थापना भी किया करते थे। उन्हें न्यायिक अधिकार भी प्राप्त हो गए। ऐसे अधिकारियों को ही 'सामन्त' कहा गया। इन सामन्तों के अधिकार सीमित थे और ये सामन्त भूमिदान नही कर सकते थे जबकि भूमि दान का अधिकार केवल राजा को ही था।[80] राजा बिना सामन्त की सहमति प्राप्त किए ही उसके क्षेत्र के ग्रामों को दान में दे सकता था।[81] राजा से अनुमति प्राप्त करने के पश्चात ही सामन्त भूमि दान कर सकता था।[82] परन्तु सामूहिक स्वामित्व के भी उदाहरण मिलते हैं और अनेक प्रदेशों में उसके बाद भी। संभवतः आरम्भिक वैदिक युग में, जब आर्यों का स्थाई साम्राज्य स्थापित नहीं हुआ था, भूमि पर सामूहिक स्वामित्व था। किन्तु परिवारों में वृद्धि होने पर व्यक्तिगत अधिकार स्वभावतः प्रचलित हो गया होगा। किन्तु इस लम्बी परम्परा का प्रभाव बाद में भी रहा। ब्राम्हण ग्रन्थो में कहा गया है कि सम्पूर्ण पृथ्वी का दान राजा भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार राजा विश् या जन के परामर्श से ही भूमि का वितरण करता था। महाभारत (12.78.2) में भूमि का विक्रय पाप माना गया है। भूमि का विभाजन पहले अच्छा नहीं माना जाता था। अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनमें चारागाह, नहर, तालाब, जंगल तथा गाँव की सीमावर्ती भूमि पर सामूहिक स्वामित्व था। बहुत सी कबाइली जातियों में सामूहिक स्वामित्व बहुत बाद तक पाया जाता है।

इसी प्रकार सुदृढ़ राज्यों के स्थापित हो जाने पर समस्त भूमि पर राजा का अधिकार मान लिया गया। पर अधिकतर राजा का अधिकार केवल इस अर्थ में था कि वही बलि तथा अन्य करों का अधिकारी था। एकबार भूमि पर किसी व्यक्ति का अधिकार हो जाने पर राजा मनमाने ढंग से उसे छीन नहीं सकता था पर निरंकुश राजा इसके अपवाद भी थे। किन्तु न्यायी राजा केवल सरकारी भूमि या अनधिकृत भूमि का ही दान कर सकता था या किसी को विक्रय में दे सकता था। हम कह सकते हैं कि राजा का भूमि पर अधिकार निम्नलिखित अर्थों में था :

(अ) आरम्भ में राजा कबीले का प्रमुख होता था। अतः वह कबीले की सम्पूर्ण भूमि का अधिकारी था।

(ब) बाद में राज्यों की स्थिति सुदृढ़ होने पर राजा उन सभी भूमियों से कर लेता था जिन पर प्रजा का व्यक्तिगत अधिकार था।

(स) राजा राजकीय भूमि पर दासों एवं दासियों के द्वारा कृषि कर्म करवाता था।

(द) भूमि के अन्दर की सम्पत्ति पर मुख्य रुप से राजा का ही स्वामितव था।

(य) जिस भूमि पर प्रजा का व्यक्तिगत अधिकार नही था वह राजा की ही भूमि मानी जाती थी। राजा ही आवश्यकतानुसार उसे प्रजा को देता था या दान में।

(र) जब कोई व्यक्ति कृषि सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करता था या बिना उत्तराधिकारी के मर जाता था या बिना कोई निर्णय लिये अन्यत्र चला जाता था तो उसकी भूमि पुनः राजा की भूमि हो जाती थी।

पर उपरोक्त अर्थों में राजा के स्वामित्व मे एवं व्यक्ति अथवा पूरे गाँव के स्वामित्व में कोई विरोध नहीं है।

इससे स्पष्ट हो जाता है राजा सैद्धान्तिक रुप में समस्त भूमि का स्वामी था, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भूमि पर प्रजा का व्यक्तिगत अधिकार था। कुछ भूमियों पर पूरे गाँव का सामूहिक स्वामित्व भी रहता था। कभी-कभी जो सामन्त अत्यधिक प्रभावशाली होते थे वे बिना सम्राट की पूर्वानुमति के ही भूमि दान कर देते थे। वह सम्राट की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक नहीं समझते थे।[83] परन्तु यदि राजा शक्तिशाली होता था तो सामन्तों से भूमि वापस भी लें सकता था।[84] प्राचीन काल के अन्तिम शताब्दी में

यही सामन्त स्वयं को भूमि का स्वामी समझने लगे। जिससे कृषकों का शोषण होने लगा। परन्तु ऐसी भी व्यवस्था थी कि शोषण होने पर कृषक अपनी भूमि दूसरे कृषक को बेच सकें।[85] कभी-कभी जो सामन्त उदार होते थे वे कृषकों के हितों की सुरक्षा भी किया करते थे। एक प्राचीन अभिलेख के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि, कागड़ा के एक महासामन्त ने गाँव के निवासियों सहित एक गाँव दान में दिया था।[86] इसी प्रकार मारवाड़ के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुछ व्यक्तियों को त्रिपुरुष देव की सेवा के लिए दान में दिया गया था जिसमें एक बांसुरी बजाने बाला, दो रहट चलाने वाले, छः गायक, एक गायिका, एक ढोल बजाने वाला था।[87] इस प्रकार जब केन्द्रीय सरकार की शक्ति दुर्बल हो गई तो सामन्तों ने कृषकों का शोषण करना शुरु कर दिया। पूर्ववर्ती कालों में राजा को बेगार लेने का अधिकार था। उसी को आधार बना कर सामन्तों ने भी बेगार (विष्टि) लेना प्रारम्भ किया, भूमि कृषकों को दान में देने लगे परन्तु ये कृषक अपने खेतों को छोड़कर दूसरी जगह नही जा सकते थे। परन्तु यह स्थिति देश के किसी - किसी भागों में ही थी। शेष अन्य भागों में कृषक स्वतंत्र थे।

4. भू-धारण पद्धति या भोगावधि

भूमि धारण की प्रणाली के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न ग्रंथो तथा अभिलेखों में भिन्न-भिन्न प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है। आचार्य कौटिल्य के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के खेत पर कृषि कार्य कर ले तो उस व्यक्ति को खेत के स्वामी को उचित लगान देना चाहिए।[88] आचार्य कौटिल्य ही आगे यह लिखते हैं कि यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के खेत में सुधार आदि करके और अधिक खेती योग्य बना ले तो उसके बदले मे कुछ धनराशि लेकर लगभग पाँच वर्ष पश्चात् वह खेत के स्वामी को वापस कर देता था।[89] आपस्तम्ब के अनुसार कृषि योग्य भूमि का स्वामी अन्न उत्पादन का कुछ भाग लगान के रुप में लेकर किसी अन्य व्यक्ति को अपनी भूमि कृषि कार्य हेतु दे सकता है।[90] भारत के पश्चिमी भागों से प्राप्त अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि कृषक 2, 3, 4, 8, 9, 12, 20 या 26 निवर्तन भूमि के स्वामी थे। इस समय कृषक और राज्य के मध्य कोई मध्यस्थ नही था। अर्थात्

उत्पादन और अन्य खनिजों पर पहले की भाँति ही रहेगा। इस प्रकार सम्भवतः छिद्रभूमि ऐसी भूमि को कहते होंगे जिस पर खेती नही की जा सकती हो। अप्रदाक्षय नीवी भूमि का अर्थ संभवतः यह होगा कि अनुदान पाने वाला व्यक्ति उस भूमि का पूर्णतः उपभोग तो कर सकता है परनतु वह उस भूमि को किसी अन्य व्यक्ति को दान में नहीं दे सकता। अप्रदाधर्म नामक भूमि भी संभवतः इसी प्रकार की भूमि रही होगी कि, इस प्रकार के भू-खण्ड का स्वामी इस भूमि का उपयोग तो कर सकता था लेकिन वह किसी अन्य व्यक्ति को दान में नही दे सकता। उपरोक्त अभिलेखों तथा प्राचीन ग्रंथो के विश्लेषण से यही प्रतीत होता है कि, गुप्त काल में नीवी धर्म से भूमि या ग्राम दान देने की प्रथा भारत के कुछ भागों विशेषतः उत्तरी भारत या पूर्वी भारत में कही-कहीं विद्यमान थी।

5. भूमि मापन पद्धति

भूमि मापन की प्रणाली के सम्बन्ध में प्राचीन ऐतिहासिक स्त्रोतों में विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। काम जातक में एक स्थान पर यह उल्लेख प्राप्त होता है कि जब राजकर्मचारी भूमि की पैमाइश के लिए ग्राम में आए तब श्रेष्ठि ने उस राजकुमार को जो अपने अनुज के लिए सिंहासन त्यागकर उस श्रेष्ठि के परिवार के साथ रहने लगा था, बलि की माफी के लिए राजा को लिखने को कहा।[104] इस सन्दर्भ में आधुनिक विद्वान यू0 एन0 घोषाल का मत है कि भूमि का मापन सीधे बलि निर्धारण से सम्बन्धित है और इसका अर्थ संभवतः यह हो सकता है कि एक निश्चित क्षेत्र इकाई के लिए सरकारी मानदण्ड या औसत दर प्रचलित थी जो नि जोत क्षेत्रो के कर निर्धारण के लिए लागू की जा सकती थी।[105] कुरुधम्म जातक मे एक अन्य स्थल पर यह उल्लिखित है कि माप रस्सी की खूँटी खेत सीमा पर स्थित केंकड़ा बिल की इस तरफ या उस तरफ गाड़े जाने से राजा को घाटा होगा।[106] इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि राजा का भाग मापन के पश्चात ही तय होता था। आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र में 'कृष्टाकृष्ट' कृषि योग्य भूमि की गणना करके उसके आधार पर उनका क्षेत्रफल जानने का निर्देश दिया है।[107] अर्थशास्त्र में ही एक अन्य स्थान पर रैखिक मानों के मानदण्डों द्वारा भूमि मापन का

विस्तृत उल्लेख किया गया है।[108] हमारे अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी इन मानदण्डों का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ- पतंजलि अरत्नि,[109] वितस्ति,[110] अक्ष,[111] पाद,[112] प्रादश[113] और 'दिष्टि'[114] इत्यादि। इन उल्लेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में भूमि की मापन के लिए एक सुव्यवस्थित प्रणाली प्रचलित थी। सातवाहन काल में भी अनेक भू-दान पत्रों में मापन हेतु 'निवर्तन' शब्द का उल्लेख मिलता है।[115] आचार्य कौटिल्य ने भी इस माप का उल्लेख किया है।[116] वाकाटक तथा मैत्रक अभिलेखों में 'पादावर्त' नामक माप की चर्चा कृषि योग्य भूमि तथा तालाबों के क्षेत्रफल के सम्बन्ध में अनेक बार उल्लेख किया गया है।[117]

गुप्तकाल के अभिलेखों में भूमि मापन हेतु आढवाप, द्रोणवाप और कुल्यवाप नामक शब्दों का उल्लेख किया गया है।[118] इन शब्दो के अर्थ को स्पष्ट करते हुए मैती कहते है कि, प्राचीन काल में भारत में एक कुल्यवाप, 8 द्रोणवाप या 32 आढवाप के बराबर होता था।[119] मैती ने ही अपने ग्रंथ में बंगाल की 'पाटक' नामक भूमि मापन प्रणाली का भी उल्लेख किया है। जिसके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि, एक पाटक चालीस द्रोणवाप के बराबर होता था।[120] अनेक गुप्तकालीन अभिलेखों में भूमि की माप हाथों से की जाती थी। जैसा कि अर्थशास्त्र के महान् रचयिता कौटिल्य यह लिखते हैं कि, चौबीस अंगुल एक हाथ के बराबर होते थे। एक अंगुल 3/4 इंच होता था,[121] अर्थात् लगभग साढ़े छः फुट। गुप्तकाल के अनेक अभिलेखों मे भूमि की नाप हेतु सरकण्डों के प्रयोग का उल्लेख किया गया है। दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार सरकण्डों की लम्बाई छः हाथ होती थी।[122] नारद स्मृति के अनुसार, हाथ से बड़ी नाप 'धनु' की होती थी और और बड़े धनु की लम्बाई 107 अंगुल, बीच के धनु की लम्बाई 106 अंगुल और छोटे धनु की लम्बाई लगभग इतनी ही थी।[123] आधुनिक विद्वान मैती ने प्राचीन अभिलेखों के आधार पर भूमि मापन की व्याख्या इस प्रकार की है-

आढवाप = 1.1/8 से 1.1/2 बीघा = 3/8 से 1/2 एकड़

4 आढवाप = 1 द्रोणवाप = 4.1/2 से 6 बीघे = 1.1/2 से 2 एकड़

8 द्रोण वाप = 1 कुल्यवाप = 36 से 48 बीघे = 12 से 16 एकड़

5 कुल्यवाप = 1 पाटक = 180 से 240 बीघे 60 से 80 एकड़

इस प्रकार मैती के अनुसार, संभवतः गुप्त सम्राटों ने कोई समान मापन प्रणाली न लागू करके प्रत्येक जगह अलग-अलग मापन प्रणाली लागू की।[124]

भूमि का सर्वेक्षण

सिनाली ताम्रलेख जो कि प्रवरसेन द्वितीय के राज्यकाल का है में यह उल्लिखित है कि ब्रह्मपूरक नामक ग्राम की स्थिति उस ग्राम से हो कर बहने वाली नदी और तीन ओर स्थित ग्रामों से सीमाबद्ध है।[125] इसी प्रकार पूना अभिलेख में भी चार गाँवं द्वारा सीमाकन करके भूमि को दान में देने का उल्लेख किया गया है।[126] एक अन्य अभिलेख (हस्तिन् के अभिलेख) के अनुसार, कभी-कभी ग्राम को अलग करने के लिए उसके चारों ओर खाई खोद कर उसका सीमांकन किया जाता था।[127] हस्तिन् के ही एक अन्य अभिलेख के अनुसार, खम्मे आदि लगाकर दो ग्रामों के मध्य सीमांकन किया जाता था।[128] कभी-कभी ग्राम की स्थिति या सीमा को स्पष्ट करने के लिए पास के अन्य ग्रामों का वर्णन किया जाता था।[129]

पहाड़पुर के एक अभिलेख के अनुसार, जब कोई भी भूमि दान में दी जाती थी तो उसकी सीमाओं का भी उल्लेख किया जाता था।[130] मनुस्मृति में मनु ने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख करते हुए यह लिखा है, कि राजा को ग्राम का सीमांकन ऐसे ढंग से करना चाहिए जो जल्दी नष्ट न हो।[131] एक अन्य अभिलेख में उल्लिखित है कि, भूमि खण्ड का सीमाकन भूमि के चारों ओर गड्ढा खोद कर करना चाहिए और उसम कोयला और भुस्सी भरकर स्थायी निशान बना लेना चाहिए।[132] आचार्य बृहस्पति के अनुसार भूमि की सीमाओं में अगर किसी कारणवश परिवर्तन हो गया हो तो राज्य को पुनः उचित ढंग से सीमांकन करना चाहिए तथा उसके चारों ओर की प्राकृतिक स्थितियों को, यथा-तालाबों, वृक्षों बाग-बगीचों, नदियो, पहाड़ों, कुँओं तथा अन्य संकेतों से स्पष्ट रुप से बताना चाहिए।[133] कभी-कभी भूमि खण्डों के सीमांकन हेतु भूमि के चारों ओर स्थित भू-खण्डों के स्वामियों तथा भूमि की नाप का भी

उल्लेख किया जाता था। प्राचीन कालीन एक अन्य अभिलेख जो वैन्य गुप्त के अधिकारी रुद्रदत्त (507-508ई0) का है, इसमें एक धार्मिक कार्य हेतु ग्यारह पाटक परती भूमि का उल्लेख है।[134] इसके अतिरिक्त भूमि विवाद के समय विवाद को सुलझाने हेतु पड़ोसियों तथा उस ग्राम के अन्य निवासियों की सहायता प्राप्त की जाती थी।[135] स्पष्ट है कि विवेच्य काल में विभिन्न स्थानों एवं समयों में माप एवं सर्वेक्षण की विधियाँ प्रचलित थीं।

भूमि अनुदान

प्राचीन काल से ही 'भूमि' अनुदान के रुप में दिए जाने की प्रथा थी जो आधुनिक काल तक चलती रही1 यद्यपि ऋग्वेद में भूमि को अनुदान के रुप मे दिए जाने का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है और 'शतपथ ब्राह्मण' में यह स्पष्ट रुप से उल्लिखित है कि भूमि को दान मे नहीं देना चाहिए।[136] परन्तु बाद के ग्रंथों में भूमि दान का उल्लेख बराबर मिलता है। आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रंथ मे यह लिखा है कि, राजा अनेक व्यक्तियो को भूमि दान में दे सकता है, जैसे- ब्राह्मण को इस शर्त के साथ कि यदि वे दान-पत्र की शर्तों का पाल नहीं करेगे तो राजा दी हुई भूमि वापस ले सकेगा, राज्य के पदाधिकारियों को दान तथा अन्य लोकहितकारी कार्यों के व्यय हेतु भूमि दान में दे सकता है, वह रानियो और राजकुमारों को भी भरण-पोषण हेतु भूमि दे सकता है, विभिन्न अधिकारियों को वेतन के बदले भी भूमि दे सकता है और जो सामन्त सैनिक सहायता आदि का वचन देते थे उन्हें जागीर के रुप में भी राजा भूमि दे सकता था।[137] महाभारत मे भी अनेक स्थानों पर भूमिदान का उल्लेख है और उसे एक पवित्र कार्य समझा जाता था। नासिक गुफा के एक अभिलेख में यह वर्णित है कि एक बौद्ध उपासक धर्मनन्दिन ने कुछ भिक्षुओं के वस्त्रों के लिए जो नासिक की गुफाओं में रहते थे अपना खेत दान में दिया था। एक अन्य अभिलेख के उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि, उषवदात ने सोलह ग्राम देवताओं, ब्राह्मणों और तपस्वियों को दान में दिए थे। इसका अर्थ यह है कि, इन ग्रामों का राजस्व देवताओं ब्राह्मणों और तपस्वियों को प्रदान किया जाता था।[138] परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे इन ग्रामों या भूमि के

स्वामी हो गए। वासिष्ठीपुत्र पुलमावि के दानपत्र में इस प्रकार के भूमिदानों के सम्बन्ध में स्पष्ट रुप से उल्लेख किया गया है।[139] इसके अनुसार- वह ग्राम उस गुफा मे निवास करने वाले भिक्षुओं को दान में दिया गया है जिससे कि इस ग्राम का लगान भिक्षु अपने भरण-पाषण हेतु व्यय कर सकें, इसके अतिरिक्त उस ग्राम में कोई भी राजकीय कर्मचारी या पुलिस का अधिकारी प्रवेश नहीं करेगा, परन्तु राजा यदि चाहे तो उस दानपत्र को रद्द कर सकेगा। उपरोक्त शर्तों का उल्लेख गौतमीपुत्र शतकर्णि के दानपत्र में भी किया गया है।[140] परन्तु इस अभिलेख में ग्राम के स्थान पर कृषि योग्य भूमि प्रदान की गई और यह भूमि किसी व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। ग्रामों में स्वामित्व बदलता नहीं जबकि खेतों में स्वामित्व बदलता रहता था। नासिक के प्राप्त अभिलेखो से यह प्रतीत होता है कि उन्हे दान में प्राप्त भूमि पर कोई कर भी नहीं देना होता था।[141] कुछ अभिलेखों मे भूमि दान प्रदान करने वाले ने दान प्राप्तकर्ता को और भी अधिक सुविधाएँ प्रदान की जैसे कि दान में दिए हुए ग्राम में कोई सरकारी अधिकारी न तो प्रवेश करेगा और न ही किसी भिक्षु को परेशान करेगा, नमक नहीं खोदेगा और न ही उनके कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करेगा।[142] इसी अभिलेख में यह भी लिखा है कि, यह ग्राम अक्षयनीवी के रुप मे दिया गया था, जिसका तात्पर्य यह है कि उस ग्राम की आय का उपयोग भिक्षु कर तो सकते हैं किन्तु उसे बेच नहीं सकते थे।[143] जुन्नार के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अनेक भू-स्वामियों ने धार्मिक कार्यों हेतु अपनी भूमि का दान किया।[144] कांगड़ा के एक अभिलेख के अनुसार व्यापारी भी कृषि योग्य भूमि के स्वामी थे।[145] गुप्तकाल के भी अनेक अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि, धार्मिक कार्यो तथा अन्य प्रजाहितकारी कार्यो के लिए राजा भूमि दान करता था।[146] इस प्रकार अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण भूमि का स्वामी राजा ही होता था और दान-प्राप्त कर्ता अपने ग्राम में कोई कर आदि नही लगा सकता था जबकि राजा कर आदि अगर चाहे तो लगा सकता था। अक्षयनीवी के रुप मे दिए गए भूमि को प्राप्त कर्ता न तो बेच सकते थे और न ही गिरवी रख सकते थे। इसके अतिरिक्त जब कोई व्यक्ति कृषि योग्य भूमि को खरीदकर किसी अन्य व्यक्ति या संस्था को दान में देना चाहता था तो उसे राज्य से अनुमति भी लेनी पड़ती थी और अगर दान प्राप्त कर्ता

दान पत्र की शर्तों का उल्लंघन करता था तो राजा उस ग्राम को या भूमि को जब्त भी कर सकता था। इसके अतिरिक्त जब कोई भूमिखण्ड दान में दिया जाता था तो इसकी सूचना ग्राम के प्रधान, ब्राह्मणों, सम्मिलित व्यक्तियों तथा सरकारी अधिकारियों को भी दी जाती थी। यद्यपि राजा लोग ब्राह्मणों को दान मे भूमि देते थे यद्यपि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्राह्मण उस ग्राम के स्वामी हो गए थे। बल्कि इसका तात्पर्य मात्र यही था कि वे ग्राम से होने वाले राजस्व का उपभोग कर सकते थे और कृषक जो कर पहले राजा को देते थे अब भूमि दान प्राप्त कर्ता को देने लगे। यह तथ्य गुप्तकालीन अभिलेखों से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।[147] अनेक अभिलेखों में यह भी लिखा है कि, सरकारी अधिकारी दान प्राप्त कर्ता के अधिकार मे कोई भी हस्तक्षेप नहीं करेगा परन्तु उसमें दान प्राप्त कर्ता द्वारा कृषि योग्य भूमि पर कर लगाने का कोई उल्लेख नहीं है।[148] संभवतः राजा की भूमि के स्वामी दान प्राप्त करने पर ब्राह्मण ही हो जाते होंगे।[149] प्रसिद्ध विदेशी पर्यटक इत्सिंग के उल्लेखो से यह ज्ञात होता हे कि, बौद्ध विहार अपने खेतों को विहार के सेवकों या अन्य परिवारों को पट्टे पर देकर खेती कराते थे।[150] प्राचीन काल प्राप्त अनेक अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार के कृषि योग्य भूमि का आधा भाग विहार और आधा भाग कृषक को प्राप्त होता था।[151] इस प्रकार राजा द्वारा एक खेत और गाँव देने मे अन्तर था। क्योंकि जहाँ एक ओर दान में खेत प्राप्त करने पर दान प्राप्त कर्ता उसका स्वामी हो जाता था वहीं दूसरी ओर दान में ग्राम प्राप्त करने पर मांत्र उसका अधिकार ग्राम की आय पर ही था।[152] इस प्रकार भूमिदान के भी भिन्न-भिन्न रूप प्राचीन काल में प्रचलित थे।

भूमि की बिक्री

प्राचीन ग्रंथ अर्थशास्त्र के रचयिता आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि भूमि के स्वामी को अपने मकान की भूमि अपने सम्बन्धी को ही बेचनी चाहिए, यदि सम्बन्धी खरीददार न हो तो पड़ोसी को और अगर पड़ोसी भी न खरीदे तो किसी धनी व्यक्ति को अपनी भूमि बेचनी चाहिए।[153] एक अन्य स्थान पर कौटिल्य ने पुनः लिखा है कि भू-राजस्व देने वाले और ब्रह्मदेय भूमि के स्वामियों को अपना भूमि खण्ड

अपने वर्ग के व्यक्ति के यहाँ ही गिरवी रखना या बेचना चाहिए।[154] इस नियम का उद्‌देश्य राजा की आय में वृद्धि करना था। नासिक के एक अभिलेख के अनुसार, अषवदात ने चालीस हजार काषापण में एक ब्राह्मण से खेत खरीद कर एक बौद्ध विहार को दान में दिया था।[155] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भूमि का विक्रय दान देने के लिए किया गया था किसी व्यक्ति को कृषि कार्य करने के लिए नहीं दिया गया था। गुप्त काल के अभिलेखों में अनेक स्थानों पर यह लिखा है कि भूमि दान करने के लिए भूमि को खरीदने हेतु एक वैधानिक प्रक्रिया पूरी करनी पड़ती थी तथा स्थानीय अधिकारियो को यह सूचना देनी होती थी कि उपरोक्त भूमि खण्ड खरीदना चाहता है, उस करार नामे पर भूमि का मूल्य तथा उद्‌देश्य स्पष्ट रुप से अंकित होता था।[156] अभिलेखागार के अधिकारियो के परामर्श से स्थानीय अधिकारी भूमि की बिक्री की अनुमति देते थे। अनेक अभिलेखों में यह भी लिखा है कि, जिला परिषद के सदस्य भूमि की जाँच करने के पश्चात ही बिक्री की अनुमति दे थे।[157] सन् 443-44 में प्राप्त धर्मादित्य के अभिलेख तथा सन् 533-34 ई0 मे प्राप्त गोपचन्द्र के अभिलेखो के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इन सौ वर्षो तक भूमि के मूल्यों मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इन अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि इस समय खेतो को लोग अधिक खरीदना चाहते थे परन्तु उनके स्वामी अपने खेतों को जल्दी बेचते नहीं थे।[158]

1. चक्रवर्ती, दि0 कु0 आद्य इतिहास, प्राचीन भारत का इतिहास में संकलित लेख, सं. झा. द्वि ना. पृ. 80

2. वही, पृ0 80

3. वही, पृ0 84-85

4. वही, पृ0 122

5. मार्शल- प्रिंसिपल्स ऑफ इकनामिक्स- भाग I, पृ0 556-70

6. ऋग्वेद - 4.16,13,4.30.21 आदि

7. ऋग्वेद - 4.16,13, 4.30.21

8. ऋग्वेद - 4.30.21 तथा अन्य

9. ऋग्वेद - 4.30.21 तथा अन्य

10. अर्थशास्त्र 1.4; महाभारत, वनपर्व 67.35, मनु 7.43, रामायण, आयोध्या काण्ड 100.47 आदि।

11. ऋग्वेद - 8.54.55

12. ऋग्वेद - 10.34.10.11

13. छान्दोग्य उपनिषद- 7, 24, 2,

14. ऋग्वेद - 10, 19, 3-4

15. घोषाल, यू0 एन0- एग्ररियन सिस्टम इन एनशिएंट इण्डिया, पृ0 2

16. ऋग्वेद 1.110.5

17. तैत्तिरीय संहिता 1.8.711

18. मनु. 9.38

19. सरकार डी. सी. इपी. ग्लोसरी, पृ0 211

20. अष्टाध्यायी 4.4.97

21. बृहत्कल्प भाष्य 1.826

22. अमरकोष - 1, 5-6, पृ0 70-71, 1:0-13, पृ0 72

23. नारद स्मृति - 11, 26,

24. अमरकोष - 1, 5, पृ0 70

25. मैती, सचिन्द्र कुमार- इकनॉमिक लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, पृ0 35

26. एपि0 इण्डिया- 15, पृ0-140, टिप्पणी-2

27. मैती, सचिन्द्र कुमार-इकानॉमिक लाइफ इन नार्दन इण्डिया-पृ0-35

28. कैंम्पबेल, माडर्न इण्डिया, लन्दन, पृ0- 92

29. विल्सन, एच0 एच0, ग्लॉअरी, पृ0 286

30. सॉकलिया- स्टडीज इन द हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल ज्योग्रोफी एण्ड इथनोजॉजी ऑफ गुजरात, पृ0 51,

31. मजूमदार, कारपोरेट लाइफ इन एन्शिएंट इण्डिया- पृ0 186

32. गोपाल, एल0- ऐस्पेक्टस ऑव हिस्ट्री ऑव एग्रीकल्चर इन एनशिएंट इण्डिया, पृ0 87

33. कौटिल्य, अर्थशास्त्र- 2.24, 2.1,

34. नीलकंठ शास्त्री के. ए. एज आफ नन्दाज एंड मौर्याज, पृ. 177

35. लैगे पृ0 लैगे पृ. 42-43

36. वाटर्स, आन युवानच्वांग, वाल्युम 1, पृ0 176

37. बूच. एम. ए. इकानोमिक लाइफ इन एंशियंट इंडिया, वाल्युम 2, पृ0 25

38. अर्थशास्त्र - 2.24 पर भट्ट स्वामी की टीका,

39. मनुस्मृति - 8-39

40. मेधातिथि, मनुस्मृति- 8.39

41. सोमेश्वर, मानसोल्लास-1.361-62

42. कात्यायन स्मृति 16-17

43. मित्र मिश्र- राजनीतिप्रकाश- पृ0 - 271

44. लक्ष्मीधर - कृत्य कल्पतरु- राजधर्मकाण्ड- पृ0 90,

45. राजतरंगिणी- पृ0 3.101

46. ऋग्वेद- 1.110.5, 8.91.5, 4.38.1, 6.20.1,

47. गोपाल, लल्लन जी- हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन इनशिएंट इण्डिया-पृ0-43-44

48. मीमांसा-6.7.3,

49. चुल्लवग्ग- पृ0 159

50. जातक- 1.92-93

51. जातक-2.99,

52. मनुस्मृति - 9.44

53. गौतम स्मृति- 10.39.41

54. मनुस्मृति- 10.115,

55. मेधातिथि- मनुस्मृति-8.99,

56. देशोपदेश-2.6

57. सुभाषित रत्नकोश-5.1175,

58. धनैदह ताम्रपत्र लेख

59. इपि0 इं0, 8.9.77, नं0, 10 पृ0 78, 33.239, 21.172,

60. इपि0, इं0 1-154

61. महाभारत-6, 6, 13, 1, 68

62. दीघनिकाय-32.7

63. जातक - 2, 109 के आगे,

64. ऋग्वेद-10, 19, 3

65. मनुस्मृति-8, 237

66. कौटिल्य-3, 10

67. जातक- 1, 504

68. कार्पोरेट लाइफ 186

69. वाकाटक एज-पृ0 333

70. आषु0 मु0 सि0 जु0 जिल्द 3. भाग-2, पृ0 386-487

71. इंडि0, एंटि0 1910-पृ0-195-पृ0-12-14, धर्म्मादित्य की दानपत्र ए

72. आषु0 मु0 सि0 जु0 जिल्द-3, भाग-2, पृ0-386-487,

73. नारद स्मृति- 1, 89, कात्यायन-321,

74. बृहस्पति- 9, 26-31, कात्यायन-318-327, विष्णु-5, 187, नारद, 1,91

75. याज्ञवल्क्य- 2.24

76. मनुस्मृति-8, 147-148, गौतमस्मृति- 12, 34-86,

77. लूडर्स लिस्ट संख्या- 1142 (स्वामिराज का निर्गधन फलक- ए0 इं0 28 संख्या- 1.11.4.8

78. चन्द्रगुप्त द्वितीय का साँची का प्रस्तर अभिलेख (वर्ष 193)

79. कार्पस इन्सिक्रिप्शनम, इण्डिकेरमु, वही, पृ0 32, संख्या-6

80. याज्ञवल्क्य - 1,318, पर मिताक्षर टीका

81. एपि0 ग्राफिया इंडिका- 9, 120,

82. एपि0, इंडिका-14, 184

83. प्रोसिडिंग्स ऑफ आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेस-1.325

84. बृहत्कथा कोश-पृ0-59

85. बृहद्नारदीय पु0 38, 87, सुभाषित रत्नकोष, श्लोक-1175

86. फ्लीट कार्पस- इंस्क्रिप्शंस, इंडिकरेम, 3 से 80,

87. एपि0 इंडिका- 33, 244,

88. कौटिल्य 3, 9.3, वही 3,10

89. अर्थशास्त्र, 310

90. आपस्तम्ब- 2, 11, 28, 1, 1, 6, 18-20

91. एपिग्राफिक ऑफ इण्डिया - 15, पृ0 - 130

92. एपिग्राफिक ऑफ इण्डिया - 20, पृ0 - 63

93. एपिग्राफिक ऑफ इण्डिया - 17, पृ0 - 147

94. एपिग्राफिक ऑफ इण्डिया - 15, पृ0 - 143

95. एपिग्राफिक ऑफ इण्डिया - 15, पृ0 - 133

96. फ्लीट - पृ0 166, 179, 137

97. अमरकोश - 1, 80, पृ0 - 218,

98. एपिग्राफिक ऑफ इण्डिया - 15 प्लेट- 1, पृ0 - 131

99. एपिग्राफिक ऑफ इण्डिया - 15 प्लेट- 1, पृ0 - 131

100. एपिग्राफिक ऑफ इण्डिया - 17 प्लेट- 1, पृ0 - 347

101. कौटिल्य - 2, 2- पृ0-49-50

102. अर्थशास्त्र-2, 2 पृ0-49-50

103. घोषाल, यू0 एन0-एग्रेरियन सिस्टम इन एनशिएन्ट इण्डिया- पृ0- 21,

104. जातक- 4, पृ0 109

105. घोषाल, यू0 एन0- एग्रेरियन सिस्टम इन एनशिएंट इण्डिया- पृ0-25

106. जातक-2, पृ0 376

107. कौटिल्य-अर्थशास्त्र-2, 35

108 कौटिल्य-अर्थशास्त्र-2, 20

109. माहाभाष्य - 1, 1, 14, पृ0 25

110. माहाभाष्य - 5, 2, 37, पृ0 378

111. माहाभाष्य - 1, 2, 45, पृ0 220

112. माहाभाष्य - 1, 4, 84, पृ0 346

113. माहाभाष्य - 1, 4, 84, पृ0 345

114. मैती- इकनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया- पृ0 35-43

115. एपिग्राफिक इंडिका - 8, संख्या 8 (4) 1.3

116. कौटिल्य - अर्थशास्त्र, पृ0- 2, 220

117. मैती, इकनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया- पृ0 31-38

118. एपिग्रफिक इण्डिका- 15, प्लेट 1, 2, 3, 5, पृ0-113

119. मैती, इकनीमिकल लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया- पृ0- 35

120. मैती, इकनीमिकल लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया- पृ0- 58

121. कौटिल्य - 2.20, पृ0 106,

122. सरकार, दिनेशचन्द्र- सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस-1, पृ0-349

123. नारद स्मृति-307

124. मैती-इकनॉमिक लाइफ- पृ0-61

125. फ्लीट- पृ0- 135, 171, पृ0-164

126. एपिग्राफिक ऑफ इण्डिया- 15, पृ0-414,

127. हस्तिन् का खोह ताम्रलेख, फ्लीट - पृ0-93

128. हस्तिन् और शर्वनाथ का भूमर स्तम्भ-लेख-फ्लीट-पृ0 110,

129. प्लीट- पृ0- 100

130. पहाड़पुर ताम्रलेख- एपिग्राफिक आफ इण्डिया- पृ0- 20, पृ0 59

131. मनुस्मृति- 8, 250-51

132. बेग्राम ताम्रलेख, एपिग्राफिक इण्डिका- 21, पृ0-82

133. आचार्य बृहस्पति - 19, 7-9, नारदस्मृति- 11, 4-5,

134. इं0 हि0 क्वा0 6 (1930) पृ0 55-56,

135. नारदस्मृति- 11, 2, बृहस्पति 19, 20-22,

136. शतपथ ब्राह्मण- 18, 7, 15

137. कौटिल्य-अर्थशास्त्र- 2, 1,

138. नासिक गुफा अभिलेख सं0 9 - प्लेट - 3

139. नासिक गुफा अभिलेख सं0 3 - प्लेट - 2

140. नासिक गुफा अभिलेख सं0 3 - प्लेट - 2

141. नासिक गुफा अभिलेख सं0 3 - प्लेट - 2

142. एपि0 इंडि0 8 पृ0 - 67,

143. एपि0 इंडि0 8 पृ0 - 67,

144. लूडर्स 1162, 1163, 1164, 1167, उद्धृत - लल्लनजी गोपाल- पृ0 64

145. एपि0 इण्डिका 1 सं0 20 व संख्या - 20 व संख्या 21

146. फ्लीट - पृ0 52, 93, 135, 191, 196, 243, 106, 117, 121, 125

147. एपि0 इण्डिका 2. सं0 30, 28 सं0 47, 4, सं0 16, 12 सं0 1, 26, सं0- 18, 23, गुप्तकालीन अभिलेख सं0 - 40, 26, एपि इण्डिका- 3 सं0 - 2, 12, सं0 17, 28, सं0 39, 23, सं0-9, 15, संख्या-4,

148. एपि0 इण्डिका - 2, सं0 - 30, 28, सं0 - 47,4 संख्या 16,12 संख्या 126, संख्या 18,23 गुप्तकालीन अभिलेख - सं0, 56, सं0 - 26, लल्लन जी गोपाल - पृ0 66-67

149. कौटिल्य - अर्थशास्त्र- 3, 10, 15,

150. इतिसंग - तकाकुसू- पृ0 61, 62,

151. एपि0 इण्डिका - 9 सं0 - 7, 13, 7 (ए)

152. लल्लन जी गोपाल- हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया पृ0-68

153. कौटिल्य - अर्थशास्त्र - 3, 10

154. कौटिल्य - अर्थशास्त्र - 3, 10, 9

155. नासिक अभिलेख संख्या - 10,

156. दामोदरपुर ताम्रलेख - एपि0 इण्डिका - 15,

157. एपि0 इण्डिका - 20, पृ0 - 59

158. एपि0 इण्डिका - 20, पृ0 - 59

अध्याय २
कृषि एवं कृषि तकनीक (।)

अध्याय 2

कृषि एवं कृषि तकनीक (i)

(क) कृषि की प्रक्रिया तथा तकनीक

पूर्व वैदिक युग में आर्यो का कृषि सम्बन्धी ज्ञान बहुत अधिक व्यवस्थित नहीं था किन्तु कृषि के प्रति इन लोगों का आकर्षण उत्साहजनक था। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वैदिक काल में ही कृषि का पूर्ण विकास हो गया था। नारायण चन्द्र वन्द्योपाध्याय[1] ने अपने मत की पुष्टि हेतु तर्क दिया है कि बहुवचन में 'कृष्टि' और 'चर्षणि' शब्दों का प्रयोग ऋग्वैदिक आर्यो के लिये किया गया है। ऋग्वैदिक आर्यो का प्रमुख व्यवसाय कृषि होने के कारण ही उन्होंने नदियों की भूमि का उपजाऊपन एवं वर्षा के लिए याचनायें की।[2]

आधुनिक विद्वान उपरोक्त विचारों से सहमत नहीं है। तर्क में उन्होंने बताया कि कृषि सम्बन्धी अनेक शब्द ऋग्वेद के प्रथम तथा दशम मण्डल में है जो बाद की रचनाएं हैं। इस काल के अन्तिम चरण में कृषि पर बल दिया गया। कृष्णमोहन श्रीमाली के अनुसार ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भिक चरण में आर्यो का मुख्य व्यवसाय पशुपालन था।[3]

पूर्व वैदिक युग में कृषि से उत्पन्न होने वाले अन्न को वे 'यव' और 'धान्य' कहते थे। इस काल के लोग तब तक उत्पन्न होने वाले अन्नों का भिन्न भिन्न नामकरण नहीं कर पाते थे। यह कार्य उत्तरवैदिक काल में ही हो सका। ऋग्वैदिक काल के आर्य लोग कृषि प्रबंध में सम्मिलित होते थे तथा कृषि के प्रति जागरूक थे। अवेस्ता से सिद्ध होता था कि उपरोक्त ज्ञान आर्यो को भारत आने से पूर्व ईरान में ही हो गया था। ऋग्वेद में प्रयुक्त किये गये शब्द 'कृष', 'सस्य' और 'यव' क्रमशः अवेस्ता में प्रयुक्त शब्द 'करेश', 'हत्य' एवं 'यवो' के ही समान है।

पूर्ववैदिक काल में अन्न का महत्व समाज में ब्रह्म के समान था। तैत्तिरीय उपनिषदानुसार अन्न ही ब्रह्म है। अन्न से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं तथा आजीविका चलती है। नष्ट होने के बाद प्रत्येक प्राणी अन्न में मिल जाता है और अन्ततोगत्वा एकरूप हो जाता है।[4]

उपनिषदों में 'अन्नं बहु कुर्वीत' का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि अधिक अन्न उत्पादन के लिए तत्कालीन लोग जागरूक थे।

निर्भर थी मगर कुओं तथा नहरों से सिचाई के उदाहरण मिलते हैं।[15] अच्छी उपज के लिए गोबर की खाद प्रयोग की जाती थी। अनाजों को ऋतुओं के अनुसार बोया जाता था। वर्ष में दो फसलें पैदा की जाती थीं।[16] गहरी खुदाई के लिए हल काफी बड़े तथा भारी होते थे उन्हें 24 बैलों द्वारा खींचने के उदाहरण मिलते हैं।[17]

चावल की जानकारी सर्वप्रथम वैदिक युग के लोगों को दोआब में हुई। इसके अवशेषों की प्राप्ति हस्तिनापुर में हुई।[18]

अष्टाध्यायी से हमें उस समय की कृषि व्यवस्था की विस्तृत जानकारी मिलती है। फसलें दो प्रकार की होती थीं- कृष्टपच्य (जो कृषि द्वारा उत्पन्न की जाती थी) तथा अकृष्टपच्य (जो स्वतः जंगल आदि स्थानों पर उग आती थी)। अकृष्टपच्य के अर्न्तगत मुख्यतया नीवार जैसे जंगली धान्य आते थे।[19]

अष्टाध्यायी के उल्लेख के अनुसार तीन विभिन्न ऋतुओं में बोई जाने वाली फसलों के नाम भिन्न-भिन्न, उन्हीं ऋतुओं के आधार पर था। यथा बसन्त ऋतु की 'बासन्तक', ग्रीष्म ऋतु की 'ग्रैष्मक' तथा आश्विन ऋतु की 'आश्विन'।

कृषि योग्य भूमि को 'क्षेत्र' तथा कृषि अयोग्य भूमि को 'ऊसर' (ऊषर) कहा जाता था। जुती हुई भूमि के लिए 'हल्य'[20] तथा 'सीत्य' शब्दों का प्रयोग किया गया है।[21] पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कृषि से सम्बन्धित अनेक शब्दों[22] का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ- कृषिबल (किसान), हल (सीर), हलयति (हल चलाना), हलि (बड़ा हल), कर्ष (जुताई), बाप (बुआई), मूलाबर्हण (निराई), लवन (कटाई), खल (खलिहान), निष्पाव (बरसाई) इत्यादि। इस युग में फसलों के ही नाम से खेतों को जाना जाता था। उदाहरणार्थ- ब्रैहेय (ब्रीहिया धान का खेत), शालीय (शालि या जड़हन का खेत), यव्य (जौ का खेत), यवक्य (यवक नामक चावल का खेत), षष्ठिक्य (साठी का खेत), तिल-तैलीन (तिल का खेत), माष्यमाषीण (उड़द का खेत), उम्य-औमीन (अलसी का खेत), भंग्य-भांगीन (भांग का खेत) इत्यादि।

तैत्तिरीय संहिता[23] के अनुसार शीतकाल में जौ बोया जाता था जो कि ग्रीष्मकाल में काटा जाता था। धान वर्षा ऋतु में बोया जाता था तथा शीतकाल में पकता था, तब इसकी कटाई की जाती थी।[24]

सूत्रकाल में भी कृषि ही जीवन का प्रमुख आधार थी। सूत्रकाल में बंजर अथवा ऊसर भूमि का

विवरण मिलता था, जिसकों लोग छोड़कर चले जाते थे। इस काल में वैश्य लोग कृषि कार्य करते थे। जुताई के लिए हलों को बैलों से खींचा जाता था। हल चलाते समय अच्छी फसल के लिए मंत्रोच्चार किया जाता था। धान्य तथा यव की फसल प्रचुर मात्रा में की जाती थी। बहुत सी जमीन ऐसी थी जहां पर जंगली चावल पैदा होता था।[25] जिस खेत में बुआई में एक प्रस्थ बीज लग जाता था, उसे प्रास्थक कहते थे। खेत की माप की यही इकाई थी।

महाकाव्य काल में कृषि-कर्म महान कार्य समझा जाता था। रामायण तथा महाभारत में हमें तत्कालीन कृषि व्यवस्था का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। महाकाव्य युग में एक शब्द 'वार्ता' का उल्लेख मिलता है। वार्ता के अर्न्तगत कृषि-कर्म, पशुपालन तथा वाणिज्य व्यापार आदि आता है। महाभारत में 'वार्ता' को संसार का मूल माना गया है। रामायण में राम ने भरत से कहा है कि 'वार्ताशास्त्र' के अनुकूल व्यक्तियों का कृषि तथा गोरक्षा में संलग्न रहना सुख प्राप्ति है।[26] इस युग में क्षत्रिय शासकों द्वारा हल चलाना कृषि कार्य की महत्ता को प्रदर्शित करता है। उदाहरणार्थ राजा जनक[27] तथा दुर्योधन[28] को हल चलाते क्रमशः रामायण तथा महाभारत में दिखाया गया है। इस काल में द्विजातियां भी कृषि कार्य करती थीं।[29] कृष्ण को भी कृषि कार्य करने वाला बताया गया है।[30]

कृषामि मेदिनीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसौ महान्।

विदुर के अनुसार वे व्यक्ति समिति की सदस्यता के अयोग्य थे जो कृषि कर्म नहीं जानते थे।[31]

न नः स समितं गच्छेद्पश्यच नोर्वपेत्कृषिम्।

अतः निश्चित है कि जिस काल में राजा स्वयं कृषि कार्य से जुड़ा हो, वहां के कृषक विभिन्न धान्यों से परिपूर्ण होंगे।

महाकाव्य काल में मुख्यतया दो फसलें होती थीं। पहली चैत्र में बोई जाती थी तथा दूसरी आश्विन में।[32]

चैत्र व मार्गशीर्षे वा सेनायोगः प्रशस्यते।

पक्वशस्या हि पृथ्वी भवत्यम्बुवती तथा।।

कृषि कार्य के लिए विभिन्न प्रकार के उपकरण प्रयोग में लाये जाते थे। हल लकड़ी का होता था जिसमें लोहे के फल लगा होता था इससे गहरी खोदाई होती थी।[33] कृषि कार्य हेतु कुदाल, हंसिया (दात्र) तथा सूप आदि का प्रयोग होता था।[34] फसल को काटकर खलिहान में लाया जाता था। वहां चावल को पटक कर भूसा तथा अन्न पृथक कर लिया जाता था। फिर सूप की सहायता से अन्न को साफ किया जाता था।[35] कृषि कार्यों में मात्र बैलों का प्रयोग होता था। वही हल तथा बैलगाड़ी भी खींचते थे। अतः अन्न को साफ तथा स्वच्छ करके ही घर पर लाया जाता था।

श्रम के आधार पर फसलों का दो प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। पहली 'बनेय' (जंगली उपज) जो अपने आप पैदा हो जाती थी तथा दूसरी 'कृष्ट' (जो श्रम करके पैदा की जाती थी।)

फसल की सिंचाई का मुख्य आधार वर्षा थी, मगर झील तड़ागों तथा कुल्याओं से भी सिंचाई की व्यवस्था थी। कृषकों को बीज तथा कर्ज दिया जाता था। कृत्रिम खादों का भी प्रयोग शुरू हो गया था।

बौद्ध युग तक आकर कृषि का समुचित विकास हो गया था। खेत को हल से जोता जाता था, जिसमें अधिकतर दो बैल प्रयोग में लाये जाते थे। फसल पकने के बाद काटी जाती थी तथा खलिहान में लाई जाती थी।[36] इस युग में तरह-तरह के शाक, फल-अनाज पैदा किये जाते थे।

जैन साहित्यों से पता चलता है कि इस समय भूमि के प्रकार के आधार पर तीन तरह की फसलों का वर्गीकरण हुआ था। पहली 'क्षेत्रिक' (जो खेत में पैदा होती थी), दूसरी 'आरामिक' (जो उद्यानों या आरामों में पैदा की जाती थी), तथा तीसरी 'आंतविक' (जो जंगली से पैदा की जाती थी)। जिस क्षेत्रिक भूमि की सिंचाई वर्षा द्वारा होती थी उसे 'केतु' तथा जिसकी कृत्रिम साधनों से होती थी, उसे 'सेतु' कहते थे।[37] खेत की जुताई तत्कालीन हलों 'कुलिय' और 'नंगल' से की जाती थी।[38] अनाज को 'असिएहि' (हंसिया) से काटकर 'सुप्पकत्त' (सूप) से साफ किया जाता था।[39] अतः खलिहान में ही अन्न की सफाई की जाती थी, तत्पश्चात् घर ले जाया जाता था।

स्मृति युग में लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि तथा पशुपालन था। भूमि-जोतने के लिए हल बैल का प्रयोग किया जाता था। अपने खेत की ठीक से खेती न करने वाले, ठीक से हल न जोतने पर दण्डित किया जाता था। वर्ष में दो प्रकार की फसलें सियालू तथा उन्हालू की पैदावार की जाती थी। ये फसलें बसन्त तथा शरद ऋतु में बोयी जाती थी। खेतों में अच्छे प्रकार के बीज बोये जाते थे। बीज में मिलावट

करने वाले के लिए दण्ड का प्रावधान था। कृषि के निमित्त प्रयुक्त किये जाने वाले बीजों, भूमि का भेद तथा उसके गुणों का ज्ञान काफी विकसित था।

मौर्य युग में भी भारत के आर्थिक जीवन में कृषि का सर्वप्रथम स्थान था। मेगस्थनीज के अनुसार भारतीयों की दूहरी जाति में किसान लोग थे जो युद्ध एवम् अन्य राजकीय कार्यो से विरत रहकर निरन्तर कृषि कार्य करते रहते थे। यद्यपि मौर्य युग में कृषि ही भारत का प्रमुख व्यवसाय था मगर कृषकों की दशा आज की तरह दयनीय तथा असन्तोषजनक नहीं थी।

तत्कालीन यूनानी लेखकों ने भारतीय भूमि की उर्वरता तथा उसमें उपजने वाले उपजों का उल्लेख किया है।[40]

कौटिल्य ने कृषि व्यवस्था पर विस्तार से लिखा है तथा कृषि योग्य भूमि को विस्तृत करने का सुझाव दिया है। उसने परती भूमि[41] तथा वन[42] को भी कृषि योग्य बनाने का सुझाव दिया है।

करदेभ्यः कृतक्षेत्राणि, एक पुरुषिकाणि प्रयच्छेत्।
अकृतानि कर्ततृभ्यो नादेयात्।।

तथा

स्थाणुच्देदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम्।

भूमि को उर्वरा बनाने पर विशेष ध्यान दिया जाता था। खेत को हल से अच्छी तरह जोतकर उसमें विभिन्न प्रकार की खाद डाली जाती थी। अर्थशास्त्र में घी, शहद, चर्बी, मछलियों का चूर्ण, गोबर, राख तथा हड्डी का प्रयोग किये जाने का उल्लेख है।[43]

शाखिनां गर्तदाहो गोड़स्थिशकृद्धि दौहदं च।
रूकढ़ाश्चाशुष्क मत्स्यांश्च स्नुहिक्षीरेण वाययेत्।।

इस प्रकार से हल से जोतकर उत्पन्न किये गये पदार्थो को 'सीता' तथा मुख्य अधिकारी को 'सीताध्यक्ष' कहते थे। सीताध्यक्ष का कार्य था कि खेती के लिए जल की कमी-बेशी के अनुसार केदारक्षेत्र (धान बोने योग्य खेत) में बोने योग्य, हेमन्त काल में बोने योग्य अथवा ग्रीष्म काल में बोने योग्य बीज

यथासमय बोवाए।[44]

शालिब्रीहिको द्रवतिल प्रियङ्. गुदारकवरकाः, पूर्ववापाः।

मुद्रमाषशैक्डया मध्यवापाः।

कुसम्भमसूर कुलत्त्ययव गोधूम कलायात सीसर्षपाः पश्चाद्धपाः

कर्मोदक प्रमाणेन कैदारं हैमनं गौष्मिकं वा सस्यं स्थापयेत्।

कौटिल्य के अनुसार तीन फसलें पैदा की जाती थी। प्रथम फसल हेमन्त (रबी), दूसरी फसल ग्रैष्मिक (खरीफ) तथा तीसरी फसल केदार (जायद)।

कौटिल्य के अनुसार फसलों में शालिधान्य की फसल उत्तम होती है क्योंकि इसमें कम परिश्रम तथा व्यय करके ही अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता था। केला तथा फलों की फसल को मध्यम बताया गया है तथा ईख की फसल को अधम बतलाया गया है। ईख की बोआई में अत्यधिक श्रम तथा व्यय की आवश्यकता होती थी तथा विघ्न बहुत पड़ते थे।[45]

शाल्यादि ज्येष्ठम्। षण्डो मध्यमः। इक्षुः प्रत्यवरः।

वक्षइ हि बह्यबाधा व्ययग्ताहिणश्च।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि कुम्हड़े आदि लताओं के फल का उत्पादन करने के लिए वह खेत अच्छा है जहां जल की मात्रा अधिक हो तथा उसका फेन टकराता हो।[46]

फेनधातो बल्लीफलानाम्।

पिप्पली, मृद्धीक (अंगूर) और ईख के लिए उत्तम खेत वह होता है, जिसके आस-पास जल का बहाव होता हो।[47]

परीवाहान्ताः पिप्पली मृद्धीकेक्षूणाम्।

मूली तथा अन्य शाकों को कुएं के निकट स्थान पर बोना चाहिए। साग-सब्जी (हरितक)

हरिणि पर्यन्त स्थान (तालाब या नदी के किनारे) पर बोना चाहिए। सुगन्धिद्रव्य, भैषज्य (औषधि), उशीर (खस), ह्वीवे (नेत्रवाला), पिण्डालु (रतालु, शकरकन्द) आदि बोने के लिए चारों ओर तालाब से घिरा हुआ स्थान अत्यन्त उत्तम है।[48]

कूपपर्यन्ताः शाकमूलानाम्।

कौटिल्य ने कृषि के विकास के लिए जनहितकारी कार्य में संलग्न रहने की राजा को सलाह दी है। यदि विषम परिस्थितियों में राजा सहायता न करे तो प्रजा को अन्यत्र चले जाने को कहा है।[49]

दुर्भिक्षस्तेनाहव्युपघातेषु च पौरजानपदान उत्साहयन्तो
सत्रिणो ब्रमः राजानमुग्तहं याचामहे निरनुग्रहा परत्र गच्छामः।

कौटिल्य ने भी 'वार्ता' शब्द का प्रयोग कृषि, व्यापार तथा पशुपालन के लिए किया है। तीनों वैश्यों के व्यवसाय थे।[50] अर्थशास्त्र तथा प्राचीन बौद्ध साहित्यों के अनुसार गाँव का स्वामी नगर में रहता था तथा गाँव की देख-भाल ग्राम-भोजक (ग्रामिक या ग्रामणी) करता था।[51] अतः धीरे-धीरे मौर्यकालीन साम्राज्यवाद के उदय के साथ-साथ ग्राम सभाओं की शक्तियां धीरे-धीरे समाप्त होती गई।[52]

डायोडोरस के अनुसार शीतकालीन वर्षा होने पर गेहूं तथा ग्रीष्मकालीन वर्षा होने पर चावल, तिल आदि बोया जाता था।[53]

पतंजलि के काल में कृषि का पारंपरिक अनुकरण होता रहा। कृषि सम्बन्धी अनेक क्रियाओं का महाभाष्य में विवरण मिलता है।[54]

नानाक्रियाः कृषेरर्थः।

जोतना, बोना, निराना, काटना, गाहना तथा सलाना आदि सभी क्रियाएं 'कृषि' के अन्तर्गत आती थी। इस युग में कृषक को 'कृषिबल' की संज्ञा दी गई है।[55] बैल से हल चलाने का कार्य लिया जाता था। इसे 'गो', 'अनड्वान्' तथा 'बलीबर्द' कहा जाता था[56] जो बैल हल तथा गाड़ी दोनों खींच लेते थे, उन्हें अच्छा माना जाता था।[57]

गौरयं शकतं वहति गोतरोऽयं यः शक्टंवहति सीरं च।

हल तथा गाड़ी में जुता हुआ बैल 'दम्य' के सन्दर्भ में जाना जाता था। हल चलाने वाले किसान को 'हालिक' अथवा 'सैरिक' तथा हल को 'सीर' के नाम से जाना जाता था। हल दो प्रकार के होते थे। 'सुहल' अच्छा हल तथा 'दुर्हल' खराब हल। जिस किसान के पास हल नहीं था, उसे 'अहल', 'अपहल', 'अपसीर' अथवा 'अपलांगल' शब्दों से संबोधित करते थे। जोती जाने वाली भूमि को 'हल्या' तथा जुत गई भूमि को 'सीत्य' कहते थे।[58] जो भूमि जोतने योग्य होती थी, उसे 'कर्ष' कहते थे।[59]

महाभाष्य से स्पष्ट है कि उस समय मिश्रित खेती की जाती थी। अर्थात् दो फसलें मिलाकर बोई जाती थीं। उड़द तथा तिल को एक साथ बोया जाता था।[60]

तिलैः सह माषान् वपति। तिलैमिश्रीकृत्य माषा उप्यन्ते।

उड़द बोने के लिए जोतकर खेत तैयार करने के बाद धान्य के रूप में उड़द के बीज डाले जाते थे, ससाथ ही साथ थोड़े तिल भी बोये जाते थे।[61]

यदा तु खलु कस्यचिन्माशबीजावाप उपस्थितस्तदर्थं च

क्षेत्रमुपार्जितं तन्नान्यदपि किच्चदुप्यते यदि भविष्यति।

उस समय की फसलों को दो प्रकार में विभाजित करते हैं। पहली 'कृष्टपच्य' तथा दूसरी 'अकृष्टपच्य'।

गुप्तयुग तथा उसके परवर्ती काल तक आकर कृषि अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंच गई थी। कृषि का विस्तार बढ़ गया था। शान्ति तथा सुव्यवस्था का युग होने के कारण इस काल में कृषि का बहुमुखी प्रसार हुआ।[62]

पशुपाल्यं कृषि पण्यं वार्ता वार्तानुजीविनाम्

सम्पन्नों वार्तया साधूनवत्ते भय मृच्छति।।

कालिदास के अनुसार राष्ट्रीय आर्थिक विकास में कृषि तथा पशुपालन का बहुत महत्व है।[63]

ई0पू0 600से 300 ई0 के काल मे जगलो को काटकर तथा परती भूमि पर खेती करके कृषि योग्य भूमि का अत्यधिक विस्तार कर लिया था। इसीलिए नारद[64] के अनुसार कृषि योग्य भूमि के स्वामी की अनुपस्थिति मे अन्य व्यक्ति खेती कर सकता था। खेती पर खर्च किये हुए धन को वापसकर, भूमि का स्वामी पुनः कुछ व्यक्ति राज्य से अनुमति लेकर परती भूमि को भी कृषि योग्य बना लेते थे।[65] इस भूमि का मूल्य तथा कर कम था। राज्य ब्राह्मणों को जंगलो में कृषि करने के लिए भूमि देता था।[66] ऋषि लोग आश्रम के निकट की भूमि पर कृषि कार्य करते थे।[67] इस काल में अधिकतर व्यक्तियों के पास छोटे-छोटे खेत थे जिनमे परिवार के लोग मिलकर कृषि कार्य करते थे।[68] बड़े खेतो के स्वामी बटाई पर किसानो से खेती कराते थे।[69]

कृषि योग्य भूमि का फसलो के आधार पर विभाजन होता था। वराहमिहिर ने तीन प्रकार की फसलों का उल्लेख किया है- पहली 'गर्मी' (रबी), दूसरी 'पतझड़' (खरीफ) और 'साधारण समय' में होने वाली फसलें।[70] वर्षा के महत्व को समझते हुए वराहमिहिर ने मौसम के विषय में भविष्यवाणी लिखी है।

उस समय किसान फसल बोने के पूर्व तीन बार जमीन को जोतता था। कुदाल से मिट्टी के बड़े ढेले तोड़कर जमीन भुरभुरी करता था। अनाज को हंसिया से काटता था तथा फसल को गाह कर अन्न निकाला जाता था।

कृषि योग्य भूमि, जहां पर वर्षा अधिक होती थी उसमें चावल या ईख उगाई जाती थी तथा जहां वर्षा कम होती थी, वहां गेहूं जौ उगाया जाता था।

उस समय बंगाल मे कलम शालि नामक चावल उगाया जाता था। इस समय तक बेहन लगाकर धान की कृषि शुरू हो गई थी। कलम शालि चावल इसी तरह लगाया जाता था।[71]

वृहतसंहिता के अनुसार कटहल, जामुन, केला, अनार, अंगूर के पेड़ कलम काटकर दूसरे पेड़ो पर चढ़ाये जाते थे।

वृहतसंहिता के अनुसार जिन पौधों मे शाखा न हो उन्हें पतझड़ में, जिनमें शाखा हों उन्हें शीत ऋतु में और जिनके तने बड़े हों उन्हें वर्षा ऋतु में एक स्थान से उखाड़र दूसरे स्थान पर लगाना चाहिए।[72]

वृहतसंहिता के ही अनुसार उखाड़कर लगाने से पहले पौधों के तने पर घी, तेल, मोम, दूध और गोबर[73] लपेटना चाहिए। इससे पौधे मरते नहीं थे तथा दूसरे स्थान पर शीघ्र उग जाते थे।

वृहतसंहिता के ही अनुसार कटहल, अंजीर, अनार, अंगूर तथा जामुन की पौध को आर्दतापूर्ण भूमि पर लगाने से अच्छी फसल प्राप्त होती थी।[74]

वृहतसंहिता के अनुसार बड़े पौधों के बीच 18 फीट की दूरी होनी चाहिए। ऐसा होने पर उचित मात्रा मे हवा, धूप पौधों को लगेगी तथा पौधों का अच्छा विकास होगा।[75]

तत्कालीन कवि वराहमिहिर ने वृहतसंहिता में वृक्षों की बीमारियों के भी विषय में वर्णन किया है। वृहतसंहिता के अनुसार बीमार शाखाओं को चाकू से काटकर उन पर घी तथा मिट्टी का लेप कर देना चाहिए और उस पर दूध तथा पानी का छिड़काव करना चाहिए।[76]

वृहतसंहिता मे पौधों की बीमरियों तथा उनके कारणों का भी उल्लेख मिलता है।

वृहतसंहिता में यह भी लिखा है कि किन बीजों को बोने से पहले कितने समय तक दूध, पानी में कुछ चावल, मटर, तिल का आटा मिलाकर भिगोना चाहिए।[77] इस विधि से उस बीज का अंकुरण अच्छी तरह होता था।

(ख) सिंचाई

ऋग्वैदिक आर्य लोग फसल की उपज बढ़ाने हेतु भूमि की सिंचाई भी करते थे। इसके लिए ऋग्वेद में कुंओं से खेतों की सिंचाई का उल्लेख मिलता है।[78] अथर्ववेद में हमें नहर खोदकर सिंचाई करने का वर्णन मिलता है।[79] कुंए का पानी नालियों[80] द्वारा खेतों तक पहुंचाया जाता था। मनुष्य के काम आने वाले कुएं 'अवट' तथा पशुओ के पानी पीने के काम आने वाले लकड़ी के पात्र 'चरही' (द्रोण, आहाव) कहे जाते थे।[81] भूमि की सिंचाई हेतु चरस (कोष), वरत (वरना) और गड़ारी (अश्म चक्र) के उपयोग से पानी निकाला जाता था।[82] कुंएं से निकला हुआ पानी चौड़ी नालियों द्वारा अथवा नहरों द्वारा सींची जाने वाली भूमि तक पहुंचता था। उपरोक्त साधनों के अतिरिक्त आर्य खेतों की सिंचाई हेतु तालाब या पोखर (हृद) पल का प्रयोग करते थे।[83] इसी प्रकार सिंचाई करके जहां एक ओर वे अपनी फसलों को सूखने से बचाते थे वहीं दूसरी तरफ अधिक से अधिक उपजाऊ भी बनाते थे।

उत्तर वैदिक कालीन आर्यो ने कृषि को सुव्यवस्थित ढग से करना प्रारम्भ कर दिया था। अधिकतर कृषि वृष्टि पर आधारित होती थी। मनुकूल वृष्टि के लिए प्रार्थना[84] इत्यादि भी की जाती थी।

देवश्चेदवृष्टो सम्पत्स्यन्ते शालय इति।

स उच्यते मैव वंचः सम्पन्नाः शालस्य इत्येवं ब्रूहि।

अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है कि पर्याप्त वर्षा न होने के कारण अवग्रह (सूखा) पड़ जाता था। इसलिए कृषि कार्य के लिए कूपों और कुल्याओं का प्रयोग होता था।[85]

रामायण तथा महाभारत से पर्याप्त साक्ष्य मिलता है कि नई बस्तियां बसाने के लिए जंगल काटे एवं जलाये गये। इसके फलस्वरूप जहां एक ओर कृषि योग्य भूमि का विस्तार हुआ वहीं दूसरी ओर उस भूमि की सिंचाई हेतु नये-नये साधन अपनाये गये। महाभारत[86] तथा रामायण[87] से स्पष्ट है कि राज्य का कर्त्तव्य सिंचाई के लिए नहरें तथा तालाब बनवाना था। गौतम बुद्ध के समय लोगों ने सिंचाई कार्य हेतु खेतों के बीच नालियों एवं नहरों का निर्माण करवाया।[88] इंजीनियरो ने सभी खेतों को पानी पहुंचाने हेतु नई योजनाये बनाई।[89]

अर्थशास्त्र के अनुसार अच्छा प्रशासक वह था जिसके प्रशासन में वहां की जनता कृषि कार्य हेतु वर्षा के पानी पर निर्भर नहीं थी।[90] कौटिल्य ने सिंचाई कार्य हेतु अनेक साधन जुटाना अनिवार्य बताया गया है।[91]

धर्मसूत्रों के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि राजा के ही साथ-साथ प्रजा का भी कर्त्तव्य था कि वह सिंचाई कार्य हेतु तालाब एवं कुओं का निर्माण करवाये।[92]

सिंचाई के साधनों को यदि कोई व्यक्ति क्षति पहुँचाता था तो उसके लिए दण्ड का विधान भी मिलता है। मनु के अनुसार यदि कोई व्यक्ति तालाब को तोड़ दे तो उसको दण्डस्वरूप उसी तालाब में डुबोकर मार देना चाहिए।[93] इसी प्रकार कौटिल्य ने भी कहा था कि सिंचाई के साधनों का प्रयोग सावधानीपूर्वक एवम् आवश्यकतानुसार करना चाहिए।[94] यदि कोई व्यक्ति तालाब इत्यादि सिंचाई के साधनों को नुकसान पहुँचाये तो मृत्युदण्ड दे देना चाहिए।[95]

अभिलेखों से अनेक व्यक्तियों द्वारा कुएं और तालाब बनवाने की पुष्टि होती है।[96] इस कार्य में

राज्य भी ऐसे व्यक्ति की भरपूर सहायता करता था। कनिष्क द्वितीय के आरा अभिलेख के अनुसार दसकोठ नामक व्यक्ति को राजा ने एक लाख सिक्कों का दान दिया था जिसके फलस्वरूप जनकल्याण हेतु उसने एक कुआं बनवाया था। दक्षिण भारत मे पुलमषि द्वितीय के शासन काल में एक गृहपति द्वारा कुआं बनवाने का उदाहरण मिलता है। मौर्यकाल में तो सिचाई कार्य के निरीक्षण हेतु एक सरकारी अधिकारी के नियुक्ति का उदाहरण मिलता है।[97] ई.पू. दूसरी-पहली शताब्दी में खारवेल के हाथीगुम्फा लेख मे एक पूर्व निर्मित नहर के विस्तार का उल्लेख है। तमिल साहित्य से ज्ञात होता है कि ई.पू. प्रथम शताब्दी में चोल राजा करिकल ने गोदावरी नदी की धारा पर नियंत्रण करने का विचार किया था जिससे जहां नदी का जल नहीं पहुँच पाता वहां भी सिंचाई की जा सके। तंजौर में चोल राजाओं ने नहरों का व्यापक निर्माण कराया था। ई.पू. प्रथम शताब्दी या इससे पूर्व ही श्रृंगवेरपुर (उत्तर प्रदेश) में गंगा के बायें तट पर निर्मित एक विशाल तालाब प्राप्त हुआ है। यह तालाब पक्की ईंटों से बना है और इसके तीन भाग है। बी.बी. लाल और के. एन. दीक्षित के अनुसार यह तालाब उत्कृष्ट अभियान्त्रिकी का नमूना है।[98] इसका निर्माण राज्य द्वारा ही संभव है।

मेघदूत के अनुसार भी सिंचाई के लिए लोग प्रायः वर्षा पर निर्भर रहते थे।[99] वर्षा के अभाव में कृत्रिम सिचाई की व्यवस्था की जाती थी। झील, कूप, तड़ाग, कुल्या आदि का उपयोग खेत सींचने के लिए किया जाता था।

. वराहमिहिर ने ज्योतिष के आधार पर नक्षत्रों का अध्ययन करके वर्षा के विषय में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।[100] सिंचाई के लिए बड़ी-बड़ी कृत्रिम झील बनाई जाती थी।

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से स्पष्ट होता है कि सिचाई कार्य हेतु सुदर्शन झील का जल प्रयोग किया जाता था। यह झील सुराष्ट्र के गिरनार नगर के निकट स्थित थी। सुदर्शन झील का निर्माण मूलतः चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में किया गया था।यह झील नदियों एवं वर्षा के जल को बांधकर बनाई गई थी तथा इसमें सिंचाई की जाती थी। दूसरी सदी ईस्वी में रूद्रदामन के समय इस झील का बांध टूट गया था जिसको बनवाने के लिए रूद्रदामन ने अपार धन व्यय किया था। पांचवी सदी में स्कन्दगुप्त के शासन काल में सुदर्शल झील निरन्तर वर्षा के कारण क्षतिग्रस्त हो गई थी। इस बाढ़ से गिरनार नगर की सुरक्षा को खतरा हो गया था। इस समय एक अधिकारी चक्रपालित ने अत्यन्त साहस

दिखाकर दो माह में सैकड़ो लोगों को साथ लेकर झील के बांध का पुनरूद्धार किया था।[101]

वर्ष तोयं बहु संततं चिरं सुदर्शनं येन विभेद चात्वरात्।

संवत्सराणामधिके शते तु त्रिंशदभिरन्यैरपि षड्भिरेव।

रात्रौ दिने प्रौष्ठपस्य षष्ठे गुप्त प्रकाले गणनां विधाय।

इमाश्च या रैवतका द्विनर्गता पलाशिनीयं सिकता विलासिनी।

समुद्रकान्तः चिरबन्ध शोषिताः पुनः पति शास्त्र यथोचितं ययुः।

अपीहके सकले सुदर्शनं पुमां हि दुर्दशनतां गतं क्षणात्।

उपरोक्त विवरण से पूर्णतया स्पष्ट होता है कि सिंचाई के निमित्त बड़ी-बड़ी झीलों का ही निर्माण नहीं किया बल्कि उसके रख-रखाव एवं मरम्मत की भी व्यवस्था थी।

गाथा सप्तशती के अनुसार रहत का प्रयोग उस काल मे सिंचाई के लिए किया जाता था।

वराहमिहिर के अनुसार अत्यधिक वृष्टि के कारण बाढ़ आ जाती थी जिसके कारण दुर्मिक्ष पड़ जाता था।[102] स्कन्दगुप्त के समय में भी सुदर्शन झील के टूटने पर बाढ़ आने पर अकाल की स्थिति आ गई थी।[103] वराहमिहिर ने वर्षा न होने के कारण भी अकाल की स्थिति का वर्णन किया है।[104]

उत्तर भारत में मानसून की वर्षा खेती के लिए पर्याप्त होती थी। अधिकतर सिंचाई नदियों से भी हो जाती थी। मध्यभारत और पश्चिम भारत में नदियों से सिंचाई सम्भव नहीं हो पाती थी। अतः इन क्षेत्रों में जनता एवं राज्य ने अनेक तालाब, कुएं और झीलें खुदावाई। नारद ने सिंचाई के लिए खेतों को पानी ले जाने वाली नालियों (खेया) और पानी को रोकने वाले बांधों (बन्ध्य) का वर्णन किया है।[105] नारद के ही अनुसार टूटी हुई नाली की मरम्मत कोई भी व्यक्ति करा सकता था बशर्ते उसे उसके स्वामी या उसकी अनुपस्थिति में राजा की आज्ञा प्राप्त हो।

अमरकोष से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में तालाब बनवाने के साथ-साथ नदियों से नहरें भी निकाली गई थीं।[106] नदियों की बाढ़ से नहरों को नष्ट होने से बचाने के लिए ही नहरों से नालियां निकालने के भी उदाहरण मिलते हैं।[107]

डायोडोरस के अनुसार भारत की भूमि उपजाऊ थी तथा नदियों से सिंचाई की जाती थी।[108]

इसीलिए खाद्यान्न प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध था।

(ग) कृषि के उपकरण

ऋग्वेद के अन्तिम चरण तक ऋग्वैदिक आर्य कृषि की विभिन्न प्रकियाओं से परिचित हो गये थे। अतः कृषि कार्य को सम्पन्न कराने हेतु कृषि उपकरणों का भी आविष्कार हो गया था। भूमि की जोताई 'हल' से की जाती थी, जिसको बैल खींचते थे। 'शकट' को खींचने में भी बैलों का ही प्रयोग किया जाता था। हल भारी होते थे अतः आवश्यकतानुसार उसे छह, आठ या बारह बैल खींचते थे।[109] फसल को काटने के लिए हंसिया (दात्र, सृणि) का प्रयोग किया जाता था। फसल का गट्ठरों[110] (वर्ष) में बांधकर एक साफ सुथरे स्थान पर ले जाया जाता था, जिसे खलिहान[111] (खल) कहा जाता था। खलिहान पर ही चलनी (तिउत) और सूप (शूर्प) से ओसाया जाता था।[112] इस प्रक्रिया से अनाज को भूसा से अलग किया जाता था। अनाज ओसाने वाले के लिए 'धान्यकृत' शब्द का प्रयोग किया जाता था।[113] अन्न को मापने हेतु वर्तन प्रयुक्त किया जाता था। इसे 'उर्दर' कहा जाता था।[114] पशुओं को आहार खिलाने हेतु प्रयुक्त होने वाले लकड़ी के पात्र को 'चरही' (द्रोण, आहाव) कहा जाता था।[115]

अथर्ववेद के अनुसार खेतों को जोतने हेतु ऐसे हल का प्रयोग होता था, जिसकी मूठ लकड़ी की होती थी।[116] हल में बंधे लम्बे मोटे बांस को 'रषा' कहा जाता था। इसी के ऊपर जुआ (युग) लगा रहता था। हल काफी भारी तथा लम्बे होते थे इसलिए आवश्यकतानुसार बैलों की सख्या छः, आठ, बारह या चौबीस तक होती थी।[117]

भूमि की सिंचाई के लिए कुएं से पानी निकालने के लिए चक्र का प्रयोग किया जाता था। इसमें चरस (कोस), बरत (बरत्रा) और गरारी (अश्म चक्र) का प्रयोग होता था।[118]

हल के अतिरिकत कुदाल, हसिया, चलनी तथा छाज का भी प्रयोग कृषि कार्य में होता था।[119]

पाणिनि की अष्टाध्यायी में हल दो प्रकार का होता था। पहला हल (अथवा सीर) तथा दूसरा हलि (बड़ा हल)।[120]

बौद्ध युग तक आकर हल हल्के हो गये थे। हल को अधिकतर दो ही बैल खींचते थे। कभी-कभी दो से ज्यादा भी बैल खींचते थे।[121]

जैन साहित्यों मे हल को 'कुलिय' तथा 'नंगल' नामों से सम्बोधित किया जाता था।[122] अनाज को काटने के लिए उपयोग मे लाये जाने वाले औजार को 'असिएहि'[123] कहा जाता था। अनाज को साफ करने के लिए उपयोग में लाये जाने वाले उपकरण को 'सुप्पकत्र' कहा जाता था।[124]

महाकाव्य काल में भी कृषि कार्य के लिए हल, कुदाल, हंसिया (दात्र) तथा सूप आदि का उपयोग किया जाता था।[125] पूर्ववर्ती काल की तरह इस युग में लोहे के फल वाला लकड़ी का हल उपयोग में लाया जाता था।[126]

भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्।

तथैवान डुहो युक्तान् समवेक्षस्व जाजले।।

महाभारत महाकाव्य के अनुसार कृष्ण के बड़े भाई बलराम युद्ध करने के लिए भी हल का प्रयोग करते थे, इसीलिए उन्हें 'हलायुध' कहते थे। इस काल में हंसिए के लिए 'दात्र' शब्द का प्रयोग होता था।[127]

दात्रैशचिन्दन् क्वचित् क्वचित्।

अन्न को साफ करने के लिए 'शूर्प' अथवा 'सूप' का प्रयोग होता था।[128]

पतंजलि के काल में हल को 'सीर' के नाम से जाना जाता था। हल को चलाने वाला कृषक 'हालिक' अथवा 'सैरिक' के नाम से जाना जाता था। हल दो प्रकार के होते थे- अच्छे हल तथा खराब हल। खराब हल को 'दुर्हल' तथा अच्छे हल को 'सुहल' कहा जाता था।[129]

मनुस्मृति के अनुसार खेत जोतने के लिए लोहे के फाल वाला लकड़ी का हल प्रयोग में लाया जाता था। हल को बैल गर्दन पर रखे गये जुए के साथ खींचते थे।[130]

(घ) उर्वरक

नदियों के किनारे कृषि करने से नदियों द्वारा लाई गई उपजाऊ मिट्टी से फसल अच्छी होती थी। इसके अतिरिक्त पौधों की पत्तियों एवं तनों के सड़ने से भी भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती थी। भूमि को

अधिक उपजाऊ बनाने के लिए आर्य पशुओं से प्राप्त गोबर (करीष) को खाद के रूप में प्रयोग करते थे।[131] अथर्ववेद के अनुसार पशुओं की प्राकृतिक खाद अधिक मूल्यवान थी। गोबर का उपयोग उपली बनाने में भी किया जाता था।

महाकाव्य काल मं कृत्रिम खाद का प्रयोग होता था।

कौटिल्य ने कृषि की उपज बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार की खादों[132] को उपयोग करने को कहा है।

1. गोबर की खाद
2. पशुओं की हड्डी तथा गोबर की मिली-जुली खाद
3. ताजी-ताजी मछलियॉं भी खाद की तरह प्रयुक्त होती थी।
4. खाद में घी तथा शहद भी मिलाया जाता था।

शाखिनां गर्तदाहो गोडस्थिशकृदिम् काले दौहदं च।

प्ररूढ़ांश्चाशुष्क मत्स्यांश्च स्नुहिक्षीरेण वाययेत्।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में आरम्भ से ही कृषि की तकनीकों का विकास होने लगा था। उत्तर वैदिक काल से लेकर गुप्त वंश के राजाओं तक इन तकनीकों एवं उपकरणों में निरन्तर विकास होता रहा और इस युग तक कृषि की वे सभी विशेषतायें उपलब्ध हो जाती हैं जो हमें मध्यकाल में प्राप्त होती हैं।

(च) फसलों के बचाव के लिए साधन एवं धार्मिक संस्कार

सिंचाई तथा धार्मिक संस्कारों के साथ ही साथ फसल को नष्ट करने वाली चिड़ियों, टिड्डियों तथा कीड़े-मकोड़ो से रक्षा के भी उपाय आर्य करते थे।[133] आज की तरह उस युग में भी अधिक वृष्टि (अति-वृष्टि) और कम-वृष्टि (अनावृष्टि) से फसलों की क्षति हो जाती थी। अतः वर्षा हेतु प्रार्थनाएं की जाती थीं।[134] अथर्ववेद में हमें मौसम की भविष्यवाणी करने वाले व्यक्ति का वर्णन मिलता है।[135] अथर्ववेद में ही बिजली के प्रकोप से बचने, बाढ़ के प्रभाव से बचने एवं सूखा से बचाव हेत कुछ मंत्र मिलते

हैं।[136] कौशिक सूत्र में नहर से पानी खेतों में छोड़ने से पूर्व प्रयुक्त की जाने वाली धार्मिक क्रिया[137] का वर्णन मिलता है। कीड़ो एवम् टिड्डियों को नष्ट करने हेतु प्रयुक्त होने वाले मंत्रो का भी उल्लेख मिलता है।[138] इसके साथ ही साथ ईश्वर से उपासना की जाती थी कि अच्छी फसल हेतु अच्दा मौसम बनायें रखें जिससे अकाल न हो।[139] छांदोग्य उपनिषद में अकाल (दुर्भिक्ष) का वर्णन मिलता है जो कि टिड्डियों द्वारा फसल को नष्ट करने पर पड़ा था। इसी अकाल के कारण ऋषि चाक्रायण को अपनी पत्नी सहित कुरू देश छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा तथा कुल्माष खाकर जीवन यापन करना पड़ा।[140] उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि अकाल जैसी विषम परिस्थितियों में लोग अपना निवास स्थान छोड़, अन्यत्र चले जाते थे तथा तरह-तरह के कष्ट उठाते फिरते थे।

वैदिक साहित्य में पशुओं की वृद्धि के लिए अनेक प्रार्थनाएं हैं जो कि कृषि के आधार थे। इसी प्रकार से वे नये चरागाहों के लिए भी पूषन् से प्रार्थना करते थे।

अतः कृषि को इच्छानुसार उत्पन्न करने हेतु आर्य पूषन, इन्द्र, शुनःसी, सीता आदि विभिन्न देवी-देवताओं की वन्दना करते थे। पराशक्तियों के पूजन कार्य से कार्य सफल होने का विश्वास या भावना था।

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, विद्युत्पात आदि से फसल को बचाने के लिए आर्य तन्त्र-मन्त्र का भी प्रयोग करते थे।

सूत्र साहित्य में बैलों को हल मं जोतने, बीज बोने के समय तथा कूंड़ (सीता) को पूजने के लिए धार्मिक क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। क्षेत्र-पति के लिए एक अलग से यज्ञ का उल्लेख मिलता है। फसल के पककर तैयार हो जाने पर तत्कालीन कृषक आग्रायण (नवसस्येष्टि) यज्ञ सम्पन्न करते थे।[142] सांख्यायन गृह्यसूत्र के अनुसार हल चलाते समय मंत्रों की अभिव्यक्ति की जाती थी। ऐसी मान्यता थी कि इससे फसल की पैदावार अच्छी होती थी।

महाकाव्य काल में यज्ञ सम्पन्न कराने हेतु हल से खेत को जोता जाता था। राजा जनक ने हल से खेत को जोता था तथा सीता जी को प्राप्त किया था।[143] वैष्णव यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए दुर्योधन[144] ने भी हल द्वारा खेत को जोता था। अतः इस प्रकार के धार्मिक संस्कारों से कृषि कार्य की महानता दिखाई पड़ती है। महाकाव्य काल में यह धारणा थी कि पुण्य तथा सौभाग्यशाली शासक के

राज्यकाल में वर्षा समय से होती थी तथा फसल अच्छी होती थी।

पतंजलि के काल में भी अधिकांश कृषि वर्षा पर निर्भर करती थी तथा अच्छी वर्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना की जाती थी।[145]

देवश्चेदवृष्टो सम्पत्यस्यन्ते शालय इति।

स उच्यते मैवं वोचः सम्पन्नाः शालस्य इत्येवं ब्रूहि।

इस प्रकार वैदिक काल से ही विभिन्न संस्कारों एवं तन्त्र-मन्त्रों का प्रयोग मिलता है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि आरम्भ में भारतीय केवल जादू टोने पर निर्भर थे। हम देख सकते हैं कि कृषि विधिवत् वैज्ञानिक विधि से की जाती थी। मंत्रों का प्रयोग तकनीक के स्थान पर नहीं होता था। वास्तव में मंत्र अनिश्चितता के लिए प्रयोग किये जाते थे, तकनीक के रूप में नहीं और यह प्रवृत्ति आज भी विद्यमान है।

1. बन्धोपाध्याय, इकनोमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एशियट इंडिया, पृ0 126

2. वही, पृ0 127

3. कृष्ण मोहन श्रीमाली--वैदिक साहित्य में प्रतिबिबित भारत-प्राचीन भारत का इतिहास-दि0वि0 विश्व, पृ0 123

4. तै0 उ0, 3. 3.

5. का0 सं0, 37.1

6. का0 श्रौ0 सू0, 22.10

7. बन्धोपाध्याय, इकनोमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एशियट इंडिया, पृ0 136

8. ऋग्वेद 1, 117, 21

9. ऋग्वेद 10, 23

10. वैदिक एज, पृ0 529

11. ऋग्वेद, 10, 94, 13

12. ऋग्वेद 1, 110, 5

13. अथर्ववेद, 6, 91, 1

14. श0 ब्रा0 1, 6, 2, 3, 1, 6, 1, 3,

15. अथर्ववेद, 3, 13,

16. तैत्रि0 सं0, 5, 1, 7, 3

17. काठक सं0, 15, 2,

18. रामशरण शर्मा, एंशियेट इंडिया, पृ0 54

19. अष्टाध्यायी, 3, 1, 114,

20. अष्टाध्यायी, 5, 2, 1,

21. अष्टाध्यायी, 4,4,97; 449.

22. अष्टाध्यायी, 5, 2, 11, 2; 3, 2, 183; 3, 1, 21; 2, 1, 117; 9, 4, 97; 5, 1, 45; 4, 4, 88; 6, 1, 140; 4, 2, 50; 3, 3; 28;

23. तैत्रिरीय संहिता, 7, 2, 10, 2; 5, 1, 7, 3.
24. अथर्ववेद, 10,9,26;
25. वैदिक एज, पृ0 529
26. रामायण, अयोध्याकांड, 100, 48.
27. रामायण, 2, 11, 81, 28, 29.
28. महाभारत, 3, 255, 28.
29. महाभारत, 2, 49, 24.
30. महाभारत, 12, 342, 79.
31. महाभारत, 5, 36, 33.
32. महाभारत, 12, 100, 10-11.
33. रामायण, 13, 3, 71.2, 91, 56. महाभारत, 12, 262, 46.
34. रामायण, 2, 32, 29.2, 80, 7. महाभारत, 5, 155, 7-9.
35. रामायण, 2, 80, 7.
36. जातक, 2. पृ0 341, 6, पृ0 197.
37. बृहतकल्पभाष्य 1,826
38. आवश्यक चूर्णि, 81.
39. नायाधम्मकहा, 7.86, सूयगडंग, 47, 12.
40. स्ट्रैबो, 15, 1, 16, 20, स्ट्रैबो, 15, 1, 13 तथा फ्रैग्मेंट, 32.
41. अर्थशास्त्र, 2, 1.
42. अर्थशास्त्र, 2, 1.
43. अर्थशास्त्र, 2, 24.
44. अर्थशास्त्र, 2, 24.
45. अर्थशास्त्र, 2, 24.

46. अर्थशास्त्र, 2, 24.

47. अर्थशास्त्र, 2, 24.

48. अर्थशास्त्र, 2, 24.

49. अर्थशास्त्र, 2, 24.

50. कौटिल्य, 1, 4, पृ0 8.

51. बोस, सोशल एण्ड रूरल एकोनामी आफ नादर्न इण्डिया, 2, पृ0 66.

52. बोस, वही, जि0 2, पृ0 66-76.

53. डायोडोरस, 2, 36.

54. महाभाष्य, 3, 1, 2, 6

55. महाभाष्य, 5,2,112

56. महाभाष्य, 1, 2, 72.

57. महाभाष्य, 5, 3, 55.

58. महाभाष्य, 4, 4, 91.

59. महाभाष्य, 4, 4, 97.

60. महाभाष्य, 2, 3, 19.

61. महाभाष्य, 2, 3, 19.

62. कामंयकी नीतिसार, 2, 14.

63. रघुवंश, 16, 2.

64. नाटय, 11, 23-24.

65. (क) वैन्य गुप्त का गुणयगढ़ दानपत्र-इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली 6, पृ0 53-56.

(ख) एपि0 इंडि0 15, पृ0 113.

(ग) एपि0 इंडि0 पृ0 62.

(घ) एपि0 इंडि0 पृ0 81.

66. तिपरालेख, एपि0 इंडि0 15, पृ0 81.

67. रघुवंश 5, 8-9, शकुन्तला 2, पृ0 850 तथा 4, पृ0 903.

68. मैती--इकनोमिक लाइफ, पृ0 100.

69. फ्लीट, पृ0 164.

इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली 6, 1930, पृ0 53-56

70. वृहत संहिता, 5, 21, 9,42; 10, 18; 27, 1;

71. रघुवंश, 4, 36-37.

72. वृहत्संहिता 55, 6.

73. वृहत्संहिता, 55, 7.

74. वृहत्संहिता, 55, 10-11.

75. वृहत्संहिता, 55, 12.

76. वृहत्संहिता, 55, 14-15.

77. वृहत्संहिता, 55, 19-23.

78. ऋग्वेद, 1, 85, 10; 116, 9; 4, 17, 16; 8, 49, 6; 10, 25, 4.

79. बन्धोपाध्याय, इकनामिक लाइफ एडं प्रोग्रेस इन एशियंट इंडिया यू. 132, अथर्व. 3, 13.

80. ऋग्वेद, 8, 69, 17, 12.

81. ऋग्वेद, 10, 101, 7.

82. ऋग्वेद, 10, 101, 5-6.

83. ऋग्वेद, 3, 45, 3; 10, 99, 4;

84. ऋग्वेद, 3, 3, 135.

85. ऋग्वेद, 4, 3, 136, 3, 3, 51, 3, 3, 123.

86. महाभारत 2, 5, 77.

87. रामायण, 2, 100, 45.

88. महाकाव्य 8, 12, 1-2.

89. चुल्लवग्ग, 7, 1, 2 और 5, 17, 2.

90. कौटिल्य 6, 1,

91. कौटिल्य 2, 24.

92. विष्णु ध0 शू0 91, 1, वशिष्ठ ध0 सू0 17, 8.

93. मनु, 2, 279.

94. कौटिल्य, 2, 9.

95. कौटिल्य, 4, 11.

96. एपि0 इंडि0, 14, 7, 9.

97. स्ट्रैवो, 15, 1, 50.

98. इंडियन आर्कियोलाजी--ए रिव्यु, 1983-84.

99. मेघदूत, 16.

100. वृहत् संहिता, 2, 6-9.

101. गाथा सप्त शती 10, 59. तथा ल0 गोपाल, आस्पैक्ट्स आफ हिस्ट्री आफ एटीकल्चर इन एंशियेट इंडिया, पृ0 15.

102. मैती, वही पृ0 245, 253.

103. फ्लीट, 56.

104. मैती, वही पृ0 245, 253.

105. नाट्य, 11, 18, 20, 21.

106. अमर, 9, 36,पृ0 67.

107. अमर, 9, 7 पृ0 62.

108. डायोडोरस, 2, 35.

109. ऋग्वेद, 8, 6, 48, 10, 101, 4.

110. ऋग्वेद, 8, 78, 10, 10, 101, 3, 131, 2.

111. ऋग्वेद, 10, 48, 7.

112. ऋग्वेद, 10, 71, 2.

113. ऋग्वेद, 10, 94, 13.

114. ऋग्वेद, 2, 14, 11.

115. ऋग्वेद, 10, 101, 7.

116. अथर्ववेद, 3, 17, 3.

117. का0 सं0, 15, 2.

118. ऋग्वेद, 10, 101, 5-6.

119. बन्धोपाध्याय, इकनामिकल लाइफ एंड प्रोग्रेस इन एंशिऐट इंडिया, पृ0 134.

120. अष्टाध्यायी, 3, 2, 183 तथा 2, 1, 117.

121. जातक, 2, पृ0 341.

122. आवश्यक चूर्णि, 81.

123. नायाधम्मकहा, 7, 86.

124. सूयगडंग, 4, 7, 12.

125. रामायण, 2, 32, 29, 2, 80, 7, महाभारत, 5, 155, 7-9.

126. रामायण, 13, 3, 71, 2, 91, 56, महाभारत, 12, 262, 46.

127. रामायण, 2, 80, 7.

128. महाभारत, 6, 103, 3, 5, 155, 7.

129. महाभाष्य, 4, 4, 91.

130. मनुस्मृति, 9, 330.

131. अथर्ववेद, 3, 14, 3 और वही, 19, 31, 3.

132. अर्थशास्त्र, 2, 24.

133. ऋग्वेद, 10, 68, 1 तथा अथर्ववेद 4, 15.

134. अथर्ववेद, 7, 18, 39.

135. अथर्ववेद, 6, 12, 1-4.

136. अथर्ववेद, 7, 11.

137. कौशिक सूत्र, 40, 3-6,

138. अथर्ववेद, 7, 50-52.

139. अथर्ववेद, 6, 128.

140. छान्योग्य उपनिषद 1, 10, 1, 13.

141. अथर्ववेद, 7, 18.

142. वैदिक एज, पृ0 529.

143. रामायण, 2, 1181, 28, 29.

144. महाभारत, 3, 255, 28.

145. महाभाष्य, 3, 3, 133.

अध्याय 3
कृषि एवं कृषि तकनीक (II)

अध्याय-3

कृषि एवं कृषि तकनीक (ii)

(क) मुख्य फसलें

भारत में खाद्य उत्पादन का सबसे पहला निश्चित साक्ष्य ईसा पूर्व 5000 के आसपास उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में बलूचिस्तान में मिलता है। कृषि की सभी फसलों की पूर्वज फसलें वन्य फसलें हैं। नव पाषण युग में गेहूँ की वन्य फसल को कृषि योग्य बनाया गया था। मेहरगढ़ नामक स्थान में जो बलूचिस्तान की सीमा पर बोलन नदी के किनारे है कृषि जन्य गेहूँ तथा जौ की विभिन्न किस्मों के स्पष्ट साक्ष्य मिले हें1 इन्हीं सथानों पर नीचे के स्तर का अभी तक उत्खनन नहीं हुआ है, अतः कुछ विद्वान कृषि उत्पादन का प्रारम्भ ईसा पूर्व सातवीं सहस्त्राब्दी में मानते हैं। राजस्थान में आठवीं व सातवीं सहस्त्राब्दी में कृषि उत्पादन के साक्ष्य मिले हैं। ईसा पूर्व 2500 के आस- पास बुर्जहोम (कश्मीर) में गेहूँ तथा जौ की कृषि की जाती थी। उत्तर प्रदेश के कोलदिहवा नामक स्थान से जो कि बेलन घाटी में स्थित है चावल के बन्य एवं कृषिजन्य दोनों किस्मों के साक्ष्य मिले हैं। इन साक्ष्यों का समय ईसा पूर्व छठी तथा पाँचवीं सहस्त्राब्दी निर्धारित किया गया है। ईसा पूर्व तीसरी सहस्त्राब्दी काल के बाजरे के साक्ष्य दक्षिण भारत में मिले हैं। उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट हे कि भारत में खाद्य उत्पादन का प्रारम्भ नव पाषाण युग के विभिन्न कालों में हुआ। हडप्पा सभ्यता में कृषि का विकास इसके पूर्व ही हो चुका था। सिन्धु घाटी में सिन्ध और पंजाब में ईसा पूर्व तीसरी सहस्त्राब्दी के आस- पास कृषि जीवन फैल चुका था। इसी के कुछ समय पश्चात् सरस्वती के घाटी में भी कृषि जीवन प्रारम्भ हो गया था। हड़प्पा सभ्यता मे गुजरात एवं संभवतः राजस्थान में भी चावल की खेती के साक्ष्य मिलते हैं। हड़प्पा सभ्यता में ही नदी की बाढ़ के साथ आने वाली मिट्टी में बसन्त में गेहूँ तथा जौ बो दिया जाता था जिसे मार्च या अप्रैल के आसपास काट लिया जाता था। इस कृषि में भूमि की जोताई एवं खाद की आवश्यकता नही पड़ती थी। मिट्टी वैसे ही बहुत उपजाऊ तथा भुरभुरी होती थी। कपास तथा तिल को मेड़युक्त ऐसे खेतों में बोया जाता था, जहाँ बाढ़ का पानी नहीं जा पाता था। अन्न के भंडारों के अवशेषों से स्पष्ट होता है कि आवश्यकता से अधिक अन्न उत्पादन होता था जिसका प्रयोग नगर के निवासी करते थे। नगरीय संस्कृति

का यह एक प्रमुख आधार था।

तेक्कलकोटा पैयमपल्ली व हल्लूर (दक्षिण भारत) क्षेत्र में कुलथी, उड़द और रागी की कृषि नवपाषाण युग के अन्तिम चरणों में प्रारम्भ हो गयी थी।

हड़प्पा संस्कृति में लोथल तथा रगपुर से चावल की खेती, रंगपुर से बाजरे की खेती, नवदा टोली और सोने गाँव से गेहूँ, चावल, मसूर, मूँग और उड़द की खेती के अवशेष मिले हैं।

अधिकतर विद्वानों का मत है कि ऋगवैदिक आर्यों का प्रमुख कार्य कृषि न होकर पशुपालन था और कृषि कार्य का ज्यादा प्रचलन नहीं था। उत्तरवैदिक काल में कृषि कार्य का काफी विकास हुआ। कृषि सम्बन्धी शब्द ऋग्वेद के प्रथम तथा दशम मण्डल में मिलते हैं जो बाद की रचनाएं हैं। अतः ऋगवेद के अन्तिम चरण में कृषि पर बल दिया गया।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अनुसार अश्विन देवताओं ने मनु को जौ की खेती करनी सिखायी।[1] कृषि से उत्पन्न होने वाले अन्न को 'यव' और 'धान्य' कहते थे। प्रारम्भ में विभिन्न अन्नों का नामकरण नही हो पाया था।

उत्तरवैदिक कालीन आर्य कृषि कर्म में अत्यन्त व्यवस्थित थे। अथर्ववेद के अनुसार हल द्वारा खेत की जोताई करके कृषि प्रारम्भ हो गई थी। फसल उत्पादन बढ़ाने हेतु खाद का भी प्रयोग प्रारम्भ हो गया था।

यजुर्वेद के अनुसार जौ जाड़े में बोया जाता था तथा ग्रीष्म ऋतु मे काटा जाता था तथा चावल वर्षा में बोया जाता था और काटा पतझड़ में जाता था।[2] इसी ग्रन्थ में दो फसलों की पैदावार का भी वर्णन मिलता है।[3] यजुर्वेद में में चावल की पॉच किस्मों[4] का उल्लेख है-- महाब्रीहि (बड़े दानों वाला), कृष्णब्रीहि (काला), शुक्लब्रीहि, आशुधान्य (शीघ्र उत्पन्न होने वाला) और हापन। महाब्रीहि सबसे अच्छी किस्म थी। आशुधान्य जल्दी पकता था और हापन (लाल चावल) एकवर्ष में पकता था। यजुर्वेद की संहिताओं में उड़द, मूँग, मसूर नामक दालों का उल्लेख मिलता है।[5] यजुर्वेद की ही संहिताओं में तृणधान्यों जैसे प्रियंगु, अणु, श्यामाक, नीवार, आंव या नांव का उल्लेख मिलता है।[6] ऋगवेद में केवल जौ तथा धान्य का ही उल्लेख है।

अथर्ववेद में जौ, ब्रीहि चावल, तिल, उड़द, ईख, श्यामाक का वर्णन मिलता है।

उत्तरवैदिक काल में फलों में बेर की तीन किस्मों - बदर, कुवल और कर्कन्धु का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त बेल, खजूर, आम तथा ऑवले का भी उल्लेख है।[7]

तिल तथा सरसों नामक तिहलनों का भी उल्लेख वैदिक कालीन ग्रन्थों में पाया जाता है।[8]

वैदिक कालीन ग्रंथों में ककड़ी, कमल ककड़ी (बिस), कमल की जड़, लौकी और सिंगाड़ों आदि शाकों का भी उल्लेख मिलता है।[9]

नमक के अतिरिक्त मसाले में राई, नीबू, हल्दी तथा मिर्च का उल्लेख है।[10]

वैदिक साहित्यों में सोम के अतिरिक्त अपामार्ग, नलद, कुष्ठ तथा मांग इतयादि औषिधयां का भी उल्लेख मिलता है।[11]

सूत्र ग्रन्थों में जौ के दो प्रकार - यव तथा यवावी का वर्णन मिलता है।[12] चावल के पाँच प्रकार - कृष्णब्रीहि, महाब्रीहि, हापन, यवक और षाष्टिक का भी उल्लेख मिलता है।[13] नीवार, प्रियंगु तथा श्यामाक (साँवा) नामक तृण - धान्यों का भी उल्लेख मिलता है। दालों में कुलथी, मूँग तथा उड़द का भी वर्णन मिलता है।[14] मसालों में मुख्यतयाः काली मिर्च, हींग तथा पीपल इत्यादि का उल्लेख मिलता है।[15] तिलहन के रूप में मुख्यतया तिल तथा सरसों का प्रयोग किया जाता था।[16] फलों में गूलर, जामुन, सिंगाड़ा तथा आम के अतिरिक्त तीन प्रकार के बेरों - कर्कन्धु, कुवल तथा बदर का भी उल्लेख मिलता है।[17]

महाभारत एवं रामायण काल में कृषि की स्थिति काफी अच्छी थी। धान्य की सम्पन्नता के आधार पर ही राज्य की समृद्धि मानी जाती थी।[18] कोशल, मत्स्य, वत्स जेसे अन्यान्य प्रदेश कृषि की दृष्टि से अत्यन्त उर्वर और समृद्ध थे।[19] ततः समृद्धान् कुमशस्यमालिनः क्षणेन वत्सान् मुदितानुपागमत्। - रामायण

तथा बहुधान्य समाकुलम् - महाभारत

रामायण के अनुसार अयोध्या के किसान 'शालि' और विविध धान्यों से परिपूर्ण थे।[20]

महाकाव्यकाल में दो फसलें चैत्र तथा आश्विन् में पैदा होती थी। चावल के कई प्रकारों में मुख्य शालि,

खलकुलाश्च

अष्टाध्यायी के अध्ययन से स्पष्ट है कि उस काल में खेतों का नाम फसलों के नाम पर रखा जाने लगा था। उदाहरणार्थ ब्रैहेय (ब्रीहिया धान का खेत), शालीय, खेतों का नाम फसलों के नाम पर रखा जाने लगा था। (शालि या जड़हन का खेत), यव्य (जौ का खेत), षष्ठिक्य (साठी का खेत), तिल-तैलीन (तिल का खेत), यवक्य (यवक नामक चावल का खेत), उम्मय - औमीन (अलसी का खेत), माष्य - माषीण (उड़द का खेत) तथा भंग्य - भांगीन (भांग का खेत) आदि।[31] गुड़ बनाने के लिए ईख बोने का भी उदाहरण मिलता है।[32]

गुड़े साधु गाड़िकइक्षुः।

इस काल में वस्त्र रंगने के लिए 'नीली' नामक पेड़ के अवयव का प्रयोग किया जाता था।[33] -

नीलादोषधौ नील्योषधि।

अष्टाध्यायी में आम, जामुन तथा बेल फलों का विवरण है। पाणिनि ने 'गवेधका' (गोभी) का भी उल्लेख किया है।

अष्टाध्यायी के अनुसार मुख्यतः तीन प्रकार की फसलें बोई जाती थीं। प्रथम-बासन्तक (बसन्त ऋतु की फसल), दूसरी ग्रैष्मक (ग्रीष्म ऋतु की फसल) तथा तीसरी 'आश्वयुजक' (आश्विन ऋतु की फसल)। कृषियोग्य भूमि को 'क्षेत्र' तथा अयोग्य भूमि को 'ऊसर' कहा जाता था।[34]

सूत्रकाल के 'सांख्यायन गृह्यसूत्र' के अनुसार धान्य तथा यव मुख्य फसले थीं। उस समय भी वंजर या ऊसर भूमि थी।

बौद्ध युग में अनेक प्रकार के अनाजों को पैदा करने का उल्लेख मिलता है। बाजरा, मटर, चना, उर्द, मूँग, ब्रीहि तथा तंड्ल नामक अनाजो के साथ-साथ ईख तथा नारियल की खेती के भी उदाहरण मिलते हैं।[35] मसालो में मुख्यतया मिर्च, अदरख, लहसुन, जीरा तथा राई की पैदावार का वर्णन मिलता है।[36] इस काल के मुख्य फलों में आम, जम्बूफल, सेंब, अंगूर, अंजीर, खजूर तथा केला आदि मुख्य हैं।[37]

जैन युग मे मुख्यतया तीन प्रकार की फसलें होती थीं। पहली 'क्षैत्रिक' (खेतो में उत्पन्न होने

वाली), दूसरी आरामिक (उद्यान या आराम में पैदा होने वाली) तथा तीसरी 'आटविक' (जंगल में उत्पन्न होने वाली)। क्षैत्रिक भूमि दो प्रकार की होती थी। पहली 'सेतु' (कृत्रिम साधनों से सिंचित) तथा 'केतु' (वर्षा सिंचित)।[38] मुख्य 'क्षैत्रिक' उपज के उदाहरण-यव, गोधूम, ब्रीहि, माष, शालि, मुद्ग, चणक, कप्पास, इच्छु, उण्णिय, खोम, पिप्पल, लवंग, तम्बोल तथा सिगवेर आदि है।[39]
मुख्य आरामिक उपजों में अनार, आम्र, अंगूर, अंजीर, सेब, खजूर, आदि फल तथा चम्पक, कुन्द, मोगर, मल्लिका, वासन्ती तथा यूथिका नामक पुष्प थे।[40]

मुख्य 'आवटिक' उपजों में अशोक, पलाश, दाडिम, चन्दन, बिल्ब तथा जम्बू आदि थे।[41]
मौर्ययुगीन यूनानी लेखकों ने भारतीय भूमि की उर्वरा शक्ति की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। उस समय उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के अनाजों एवं फलों का वर्णन किया है।[42] विभिन्न प्रकार के फलो के साथ धान, गेहूँ, जौ तथा दाल नामक मुख्य अनाजों का वर्णन किया है।[43] इस काल में चार प्रकार की इलायची- सफेद, हरी, काली-सफेद तथा छोटी काली-चितकबरी का भी वर्णन मिलता है।[44] एरिस्टोबुलस के अनुसार दालचीनी तथा बालछड़ की भी कृषि होती थी।[45] इस काल में अन्य मसाले निम्न थे--दमनक, चोरक, शिग्तु, मरूवक, हरीतकी तथा मेषश्रृंग आदि।

कौटिल्य के अनुसार इस समय की मुख्य तीन फसलें थीं। पहली फसल वर्षा के प्रारम्भ में, दूसरी मध्य और तीसरी अन्त में बोई जाती थी।

कौटिल्य ने चावल की दो नई किस्मों-वरक तथा दारक का उल्लेख किया है।[46] कौटिल्य के अनुसार धनिया तथा सफेद सरसों का उपयोग मसालों के रूप में होता था।[47] इसी के अनुसार खिन्नी, करोंदा तथा इमली का उपयोग फलों के रूप में होता था।[48] पिण्डालु तथा जमीकन्द नामक शाकों का भी कौटिल्य ने उल्लेख किया है।[49]

पंतंजलि ने महाभाष्य में एक तृणधान्य 'गवी धुक' का वर्णन किया है।[50] इसी समय दालों के रूप में 'राजमाष' का भी प्रयोग किये जाने का वर्णन मिलता है।[51] अंगूर[2] तथा अनार[53] का फल के रूप में प्रयोग किये जाने का भी पंतंजलि ने वर्णन किया है।

कुषाण कालीन उपजों के संबंध में हमें संहिताओं के अध्ययन से पता चलता है। चरक संहिता में

अच्छे चावल की 15 किस्मों[54] में कलम किस्म का भी वर्णन मिलता है। इसी में खराब किस्म के चावल की 5 किस्मो[55] का भी विवरण मिलता है। तृणधान्यों में 'कोरदूषक'[56] का भी उल्लेख आया है। कामधूलिका और नन्दी मुखी गेहूँ की दो किस्मों का वर्णन सुश्रुतसंहिता में मिलता है।[57] सौवीर नामक वेर की चौथी किस्म का उल्लेख इस काल में मिलता है। इसी काल में अन्य फलों के साथ नारंगी, कमरख तथा पारावत किस्म के सेब का भी उल्लेख मिलता है। इसी काल में कई किस्म के साग (शाक),[58] ईख[59] (इच्छु) और कपास[60] की खेती बड़े पैमाने पर करने के उदाहरण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त तिलहन में अलसी तथा रस्सी बनाने के लिए सन की खेती करने का भी उल्लेख मिलता है।[61]

गुप्त काल तक आकर कृषि अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँच गई थी। गुप्त कालीन शासकों द्वारा शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के कारण कृषि तथा पशुपालन का बहुमुखी विकास हुआ।[62]

पशुपाल्य कृषि पण्यं वार्ता वार्तानुजीविनाम्।

सम्पन्नों वार्तया साधूनवृत्ते भयमृच्छति।।

वराहमिहिर ने तीन प्रकार की फसलों का वर्णन किया है। प्रथम गर्मी (रबी) की, दूसरी पतझड़ (खरीफ) की तथा तीसरी साधारण समय में पैदा होने वाली फसल।[63]

अमरकोश के अनुसार उस समय की मुख्य फसले गेहूँ चावल, जौ तथा तिल थी। इन्हीं चारों मुख्य फसलों के लिए जमीन की उपयोगीता के आधार पर जमीन (भूमि) का विभाजन किया गया था।[64]

अष्टांग संग्रह में चावल की समस्त 44 किस्मों का उल्लेख मिलता है।[65] महाशालि, रक्तशालि, दीर्घशूक, रोध्रशूक, तूर्णक, कलम, शकुनाहत, पुंडरीक, पुँड, सुगन्धक, प्रमोद, कांचन, साखि, गौर, लांगल, कुसुमाणक, दूषक, महिष शूक, कांचन, कर्दम, लोहवाल, पतंग, शीत भीरूक, तपनीय, षष्टिक, पतंग, कृष्णब्रीहि, महाब्रीहि, कुक्कुटाण्डक, लावक, जातुमुख, वरक, शूकर, पारावतक, शारद, चीन, दुर्दर, उज्ज्वल, उद्रदालक, यवक, हायन, कूरुवृन्द, गंधन, वाप्य, नैषधक तथा पांसु।

इस काल में वेरन डालकर धान लगाने की विधि का विकास हो गया था। बंगाल में उपजाया जाने वाला कलम शालि इसी विधि से पौध उखाड़ कर लगाया जाता था। इससे अच्छी फसल प्राप्त होती

थी।[66] मगध में अधिकतर महाब्रीहि नामक किस्म की उपज का उल्लेख मिलता है।[67] इस काल में चावल की एक फसल 60 दिनो में तैयार कर ली जाती थी।[68] मगध में पैदा होने वाला चावल बहुत सुगन्धित होता मगर पैदावार कम थी। अतः महँगा होने के कारण केवल बड़े घरों में प्रयोग किया जाता था।[69]

हर्षचरित में श्रीकण्ठ जनपद[70] की मुख्य फसलों का वर्णन मिलता है। वहाँ की मुख्य फसलें गेहूँ, चावल, ईख, सेम तथा अंगूर, अनार आदि थे।

ईत्सिग[71] के अनुसार तत्कालीन भारत की मुख्य फसलों में चावल, ईख तथा अनेक प्रकार के फल जैसे तरबूज आदि थे।

यव तथा अणुयव[72], जौ की दो किस्में तथा नन्दीमुख और मधूलिका[73] गेहूँ की दो किस्में पैदा की जाती थी।

अमरकोश में विभिन्न प्रकार के शाकों[74] का भी वर्णन मिलता है। इसमें प्रमुख हैं--सुपारी, प्याज, लहसुन, काशीफल, लौकी, ककड़ी, पान आदि।

ईख[75] अधिकतर उन्हीं प्रदेशों में बोई जाती थी, जहाँ चावल की पैदावार होती थी। ईख की खेती बड़े पैमाने पर की जाती थी।

अमरकोश के अनुसार सौराष्ट्र तथा काठियावाड़ क्षेत्र में कपास[76] की खेती बड़े पैमाने पर की जाती थी। रेशेदार फसल में कपास के अतिरिक्त 'क्षुमा और सन[77] की भी कृषि के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

उपरोक्त ग्रंथ के ही अनुसार तिलहन की मुख्य फसलें--सरसों,[78] तिल,[79] अलसी[80] थी।

उस समय केसर की भी खेती का वर्णन मिलता है। कश्मीर की घाटी तथा आमू दरिया (वक्ष नदी) के किनारे केसर की खेती की जाती थी।[81] श्वानयांग[82] ने भी केसर की खेती का वर्णन किया है। केसर का क्षेत्र उसने कश्मीर तथा दारेल (अफगानिस्तान का पूर्व दक्षिण प्रदेश) को बताया है।
केसर के अतिरिक्त मसालों में छोटी इलायची[83], बड़ी इलायची[84], अदरक[85], कालीमिर्च [86], इमली,[87] पीपल,[88] बालछड़,[89] अगरू[90] तथा हल्दी[91] का भी उल्लेख मिलता है।

रघुवंश तथा कुमारसम्भव में लौग[92] का भी उल्लेख मिलता है। वृहत्संहिता में केसर[93] का वर्णन है।

कालिदास के अनुसार मसालों की खेती मलय पर्वत (नीलगिरि) के पास की जाती थी। इसमें काली मिर्च, इलायची तथा लौंग प्रमुख थी।[94] कास्मास[95] ने भी इसे काली मिर्च का देश कहा है।

उस समय कई प्रकार के फल पैदा होते थे। उनका वर्णन हमें अमरकोश तथा रघुवंश में मिलता है। अमरकोश के अनुसार अंगूर[96], केला,[97] अनार,[98] आम,[99] नांरगी,[100] कटहल[101], ताड़,[102] नारियल,[103] तथा खजूर[104] बहुत मात्रा में पैदा होते थे।

कालिदास द्वारा लिखित रघुवंश में नारियल के[105] लिए कलिंग तथा ताड़[106] के लिए पूर्वी भारत के प्रदेश को बतलाया गया है। यहाँ ये वृक्ष अधिक सख्या में पाये जाते थे। इससे सिद्ध होता है कि गुप्त काल तक लगभग सभी फसलों, फलों, दालों, मसालों, तथा शाकों का उत्पादन होने लगा था।

ख. वन-उपवन

वैदिक कालीन आर्य प्रदेशों की जलवायु की दृष्टि से आज की अपेक्षा अधिक वर्षा होती थी, और आज जहाँ विस्तृत मैदान तथा मरुभूमि हैं वहाँ उस समय विशाल वन थे। प्रारम्भ की कुछ शताब्दियों में आर्यों के विस्तार की गति धीमी थी। वनों को साफ करने तथा कृषि योग्य बनाने के लिए पत्थर, काँसे तथा ताँबे की कुल्हाडियों का प्रयोग किया जाता था। लगभग 800 ई0 पू0 तक लोहे का प्रयोग शुरु नहीं हुआ था। हस्तिनापुर में हुई खुदाई से ज्ञात होता है कि लगभग 700 ई0 पू0 के आसपास लोहे का प्रयोग प्रारम्भ हो गया। लोहे के उन्नत औजारों के कारण विस्तार की गति बढ़ी, तथा कृषि कार्य आसान हो गया।

जनों के अधिक स्थायी रूप से बसने पर आर्यों के पेशे में परिवर्तन हुआ। पशुपालन से हटकर उनका ध्यान कृषि की ओर गया। आग ने भी अपनी भूमिका निभाई तथा कृषि कार्य के लिए जमीन बनाने हेतु वनों को अन्धाधुँध काटा एवम् जलाया गया।

इस प्रकार वन एवं उपवन नष्ट होने लगे तो वर्षा कम होने लगी। इससे सूखा पड़ने के कारण दुर्भिक्ष की स्थिति बनती गई। तो फिर एक बार वन एवं उपवनों की ओर मनुष्य का ध्यान आकर्षित

हुआ।

बुद्ध[107] तथा महाबीर[108] ने पौधों की रक्षा करने का उपदेश दिया। कौटिल्य[109] के अर्थशास्त्र में भी वृक्षों को बचाने का उल्लेख मिलता है। अशोक के स्तंभ लेख के अनुसार एक राजाज्ञा को उल्लेख है जिसके अनुसार जंगलों को जलाने की मनाही थी।[110] मनु स्मृति के अनुसार वृक्ष (हरे पेड़) को काटने वाले व्यक्ति को समाज द्वारा बहिस्कृत कर दिया जाना चाहिए।[111] महाभारत के अनुसार जंगलों एवं अन्य वृक्षों का काटना महापाप समझा जाता था।[112] महाभारत के ही अनुसार जंगलों को आग लगाना उतना ही बड़ा पाप था जितना बड़ा पाप ब्राम्हण हत्या था।[113] कौटिल्य ने तो जंगल को आग लगाने वाले के लिए दण्ड का विधान रखा है। अर्थशास्त्र के अनुसार जो जंगल को आग लगाये, उसे उसी समान आग में डालकर जला देना चाहिए।[114] अतः स्पष्ट है कि उस समय वनों एवं उपवनों का कितना महत्व था।

रामायण के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि कई विशिष्ट वनों की रक्षा की जाती थी। दक्षिण भारत के चन्दन वन की रक्षा गन्धर्वों द्वारा किये जाने का उल्लेख मिलता है।[115] सुग्रीव के वन, मधुवन की रक्षा दधि मुख तथा अन्य सैनिक करते थे।[116] मधुवन में शहद निकालने तथा फल तोड़ने की मनाही थी।

शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता था कि उस समय वनों एवं उपवनों का उपयोग लोग शान्ति, पूजा तथा आमोद-प्रमोद के लिए करते थे। ऋषि लोग वनों मे साधना करते थे। राजा-रानी अपने वनों में आमोद-प्रमोद तथा शिकार करते थे। गौतम बुद्ध कई बार काशी के मृगदाय में रुकते थे।[117] महावग्ग के अनुसार बुद्ध के तीन शिष्य जोसिंग के साल के जंगलों में आत्मशान्ति के लिए ठहरे थे।[118]

श्रावस्ती के जेत वन, अजन्ना वन तथा राजगृह का जीवक का आम्रवन और विशाखा का आराम ऐसे उपवन थे जिनका उपयोग आध्यात्मिक शान्ति एवम् आमोद-प्रमोद दोनों के लिए किया जाता था। अर्थशास्त्र में जंगलों की तीन श्रेणिया बताई गई हैं।[119] पहली श्रेणी--शिकार जंगल, दूसरी श्रेणी--वन्य वस्तुओं के जंगल तथा तीसरी श्रेणी--हाथियों के जंगल। राजा इस प्रकार के जंगलों की देखभाल करता था तथा नये जंगल स्थापित करता था।[120]

जंगलों का महत्व सैनिक एवम् सुरक्षा के भी दृष्टिकोण से था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार एक एसा वन जिसके बीच में नदी बहती हो राज्य की शत्रुओं से रक्षा करता है।[121] इससे स्पष्ट है कि उस समय वनों के आर्थिक एवम् सैनिक महत्व को भली भाँति समझा जाता था।

कौटिल्य ने वनों से प्राप्त होने वाली वस्तुओं का विस्तृत वर्णन किया है।[122] उसमें भवन निर्माण तथा इंधन की लकड़ी[123], खाद्य पदार्थ (फल, औषधियाँ शहद आदि) तथा पशुओं से मिलने वाले पदार्थ[124] आदि हैं। कौटिल्य ने वन निरीक्षक अधिकारियों के कर्तव्यों का भी वर्णन किया है।[125] जंगलों में डाकू भी छिपे रहते थे।[126] इसलिए वनों की रक्षा करना राज्य के लिए सरल कार्य नही था।

गुप्त काल तक वनों के ही अन्दर कुछ स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये थे तथा राज्य की सुरक्षा के लिए खतरा बन गये थे। समुद्रगुप्त के प्रयाग अभिलेख में ऐसे राज्य के शासकों को समुद्रगुप्त द्वारा हराने का उल्लेख है।[127] हस्तिन् के खोह ताम्रलेख में भी वनों के 18 राज्यों के विषय में उल्लेख मिलता है।[128] बराहमिहिर के अनुसार भारत के उत्तर पूर्वी किनारे पर भी कुछ जंगली राज्य थे।[129]

कालिदास के अनुसार वनों से बहुत ही महत्वपूर्ण चीजें उपलब्ध होती थीं। उदाहरणार्थ--रूरु हिरन की खाल,[130] पशुओं की खाल,[131] कस्तुरी,[132] लाख,[133] चौटी के बाल[134], हाथी दाँत[135] इत्यादि। जंगलों की लकड़ी से जहाज[136] तथा साल[137] की लकड़ी से भवन निर्माण होता था। कलिंग,[138] कामरूप[139] तथा अंग[140] के जंगलों से हाथी पकड़े जाते थे। इन हाथियों का उपयोग सेना[141] में होता था।

नगरों के निकट कई उपवन थे[142] इन उपवनों में राज परिवार आमोद-प्रमोद करते थे।[143] इन वनों की सिंचाई नालियों द्वारा की जाती थी।[144] इन वनों की देखभाल एक अधिकारी करता था। फ्लीट[145] के अनुसार जंगलों का अध्यक्ष गौल्मिक कहलाता था। परन्तु बसाक[146] तथा घोषाल[147] इस विचार से सहमत नहीं हैं।

(ग) कृषि तथा सम्बन्धित कार्यो में पशु प्रयोग-

आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार ऋग्वैदिक आर्यो का प्रमुख व्यवसाय पशुपालन था। अतः

उनके व्यक्तिगत जीवन में पशुओं का अत्यधिक महत्व था। इसीलिए उनके कई धार्मिक संस्कार तथा सामाजिक प्रथायें इस प्रकार थी कि उपयोगी पशुओं की संख्या में वृद्धि हो सके। गाय क्रय-विक्रय के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होती थी तथा पुरोहित को गाय दक्षिणा में दी जाती थी। गाय को मारना पाप समझा जाता था। इसीलिये गाय के लिए 'अहन्या' शब्द का प्रयोग किया गया है गाय का दूध शुभ- कार्यो में प्रयोग किया जाता था।[148] गाय आदि पशु 'गोष्ठ' नामक स्थान में चरते , जिनकी देख भाल 'गोपाल' करते थे।[149] उस युग में गाय, घोड़े और अच्छे पुत्र धन सम्पत्ति के रुप में माने जाते थे।[150]

अश्विनं सुपुत्रिणं वीर वीरवन्तं रयि नशते स्वार्स्त।

अथर्ववेद में गाय का अत्यधिक महात्म्य दिया गया है तथा गाय की हत्या करने वाले के लिए मृत्यु दण्ड का विधान है। साड़ो तथा बैलों का उपयोग बोझ ढोने एवं गाड़ियों को खीचने हेतु किया जाता था।[151] बोझा ढ़ोने वाले बैलो के वधिया करने का उल्लेख भी मिलता है।

चरागाहों एवं गाय की देखभाल बहुत अच्छी तरह की जाती थीं।[152] गाय बैल के चर्म से आच्छादन, थैले आदि निर्मित किये जाते थे।[153]

दूध के अतिरिक्त पशुओं का मांस भी खाया जाता था।[154]

घोंड़ों का प्रयोग युद्ध काल[155] में रथों तथा गाड़ियों को खीचने में किया जाता था। घोड़े के मॉस खाने[156] तथा घोड़ो को दान[157] करने के भी उदाहरण मिलते है।

ऊंटो पर माल ढोया जाता था।[158] ऊंटो को दान में देने[159] के उदाहरण भी मिलते है। ऊंटों का प्रयोग गाडियों में भी किया जाता था।[160]

भेड़े तथा बकरियां भी पाली जाती थी। भेड के खाल से निकलने वाले ऊन से वस्त्र निर्माण होता था।[161] भेड़ो, बकरियो का मांस भी खाया जाता था।[162]

हाथियां पालना गौरव का प्रतीक था। इनका प्रयोग सवारी करने एवं युद्ध करने में किया जाता था।[163]

महासूत्रों में अनेक मन्त्रों तथा धार्मिक संस्कारों का उल्लेख है जिसके उपयोग से गायों की संख्या बढ़ती थी। रुद्र की प्रार्थना कर पशुओं को अनिष्ट से बचाने का भी उल्लेख है। राजा हजारों गाय दान में

देते थे। गाय का खोना अशुभ माना जाता था तथा उसके प्राप्त होने पर धार्मिक संस्कार किये जाते थे। गाय का भूखा रहना बहुत अशुभ माना जाता था। परन्तु कुछ विशेष आयोजनों पर गो-मांस खाना शुभ माना जाता था।[164]

कौटिल्य[165] के अर्थशास्त्र, रामायण[166] तथा महाभारत[167] के अध्ययन से पता चलता है कि पशु पालन का कार्य इतना ही जरुरी था जितना कृषि कार्य। मनुस्मृति[168] के अनुसार जो वैश्य कृषि के साथ पशुपालन नहीं करता था उसे धर्महीन मानते थे।

प्राचीन बौद्ध साहित्यों के[169] के अध्ययन से पता चलता है कि गाँव वाले वेतन देकर[170] पशुओं को चरागाह भेजने के लिए ग्वाले रखते थे। कुछ लोगों का प्रमुख कार्य पशुपालन ही था तथा कृषि-कार्य पूरक व्यवसाय था। कुछ पशुपालकों के पास 30,000 पशु थे, जिनमे 27,000 गायें थी।[171] गृहपति मेंडक के यहाँ 1250 ग्वालों का उल्लेख मिलता है।[172] राजाओं के राजा बहुत पशु रखते थे। अर्थशास्त्र में भी ऐसे राजाओं का उल्लेख मिलता है।[173]

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि बिना पशुपालन के कृषि कार्य अधूरा था। दोनों कार्यो की महत्ता समान रुप से थी तथा एक दूसरे के पूरक थे। अतः प्रत्येक किसान जुताई के लिए बैल तथा दूध के लिए गायें रखता था। ग्वाले गायों को चराने का कार्य करते थे।

जिन किसानो के पास अधिक पशु होते थे वे पशुओ को जंगलों में रखते थे। इससे गाँव के खेंतों को पशु नुकसान नहीं पहुंचा पाते थे। जंगलों मे बाड़ा बनाकर पशु रखने का उल्लेख मिलता है।[174] कुछ पहाडियों से घिरे स्थानों के बीच भी पशुओं को रखा जाता था।[175] जंगली जानवरों से पशुओ की रक्षा का भार ग्वालों पर था।[176] कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार पशुओं की चोरी करने वाले व्यक्ति को मृत्युदंड दिया जाता था।[177]

माज्झिम निकाय[178] तथा अगुंत्तर निकाय[179] में अच्छे ग्वाले के सभी गुणों का वर्णन मिलता है। इसे गाय तथा बैलो की पहचान, उनकी बीमारियों तथा उसके इलाज का पूर्ण ज्ञान होना बहुत जरुरी होता था। कौटिलय के अर्थशास्त्र के अनुसार भी ग्वालों को पशुओं की बीमारियों का ज्ञान, उससे बचाव के साधनो का ज्ञान तथा पुल पार कराया जाना चाहिए। कौटिल्य ने दो प्रकार के ग्वाले बतलाये है।[180]

महाभारत में सात पशुओं की घरेलू पशुओं में गिनती की गई है। थे है- गाय, भेड़, बकरी, घोडा, खच्चर, गधा तथ बैल।[181] महावग्ग,[182] मिलिन्द पन्ज,[183] तथा महाभारत[184] के अनुसार घोड़े तथा हाथी पालने का अधिकार राजा को था। मेगस्थनीज भी इसकी पुष्टि करता है।[185] यूनानी लेखकों के अनुसार हाथी का प्रयोग शिकार, सवारी करने के साथ खेंत जोतने में भी दिखलाया गया है।[186]

जैसे-जैसे लोगों को पशुओं की महत्ता का ज्ञान होने लगा, शिकार करके उनको मारकर बहुमूल्य चीजे एकत्र करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। अतः प्राचीन काल में पशुओं की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। बुद्ध तथ महावीर ने अहिंसा का उपदेश दिया। अतः पशु पक्षियों की रक्षा के पीछे मुख्य दो कारण थे। पहला अहिसा का सिद्धान्त तथा दूसरा उनका आर्थिक महत्व। इसीकारण हाथी, घोड़ा, सांड, तथा गौ को महत्वपूर्णा धार्मिक संस्कारों के साथ जोड़ा गया।[187]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र कें अनुसार राजा को सभी पश् पक्षियों की रक्षा करना चाहिए।[188] महाभारत मे भीं पशु पक्षियों की हिंसा को अत्यधिक निन्दनीय कृत्य माना गया है।[189] अशोक की राजाज्ञाओं के अध्ययन से पता चलता है कि पशु-पक्षियों की व्यर्थ की हिंसा पर रोक थी।[190]

प्राचीन ग्रन्थो के अध्ययन से पता चलता है कि पशुओं का दुरुपयोग करने पर भी रोक थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार पशुओं का दूध वर्षा तथा पतझड़ मे दो बार तथा ग्रीष्म और शीत ऋतु में एक बार निकालना चाहिए। यदि ग्वाला इसका उलघंन करता था तो उसका अंगूठा काट लिया जाता था। भेड का बाल वर्ष में दो बार ही काटा जा सकता था।[191] देवता के नाम पर सांड छोड़े जाते थे (जिससे गायों का प्रजनन अधिक हो) दुधारु गाय के खेत चरने पर माफ कर दिया जाता था। आवारा पशुओ को भी घायल करने वालों को दण्ड मिलता था।[192] यदि पशु को अधिक चोट लग जाती थी तो जुर्माना देना पड़ता था।[193] कौटिल्य के अनुसार गोप, गाँव के निवासियो के ही साथ साथ मवेशियों के भी आंकड़े रजिस्टर में दर्ज करता था।[194]

गुप्त काल में भी पशुओं के रखंरखाव पर बहुत ध्यान दिया जाता था। जिस प्रकार कृषि कार्य हेतु बैलों का महत्व था उसी प्रकार घी, दूध, मक्खन, दही के लिए गायों का महत्व था। पशुओं की नस्ल अच्छी हो इसलिए सांड़ घोड़े जाते थे।[195] कृषि कार्य में बैल के आर्थिक महत्व को समझने के ही कारण

गौ-पूजा प्रारम्भ हुई तथा गौ हत्या को हत्या के समान अपराध माना गया।[196] गाय चुराने पर कठोर दण्ड मिलता था।[197] कालिदास रचित रघुवंश के अनुसार जंगली हाथी भी मारना मना था।[198] हाथियों के दाँत के व्यापार से भारत को विदेशी मुद्रा मिलती थी।[199] घोड़ों की भी पूजा की जाती थी।[200] इनका प्रयोग सेना तथा शिकार में किया जाता था। खच्चर[201] तथा ऊंटो[202] पर सामान लादा जाता था। कुत्तों का उपयोग शिकार तथा मवेशियों की रक्षा में होता था।[203] वराहामीहिर के अनुसार भारत में पशुओं की दशा बहुत अच्छी थी।[204]

पशुओं की रक्षा के लिए स्मृतियों में स्पष्ट नियम दिये है। बड़े पशुओं को मारने पर 500 पण, छोटे पशुओ को मारने पर 200 पण, चिडियों को मारने पर 50 पण, कुत्ता, भेड बकरी मारने पर 5 माष तथा सुअर मारने पर। माष जुर्माना था।

नारद ने पशुओं के स्वामियो तथा ग्वालों के हित में अनेक नियमों का उल्लेख किया है।[205]

(घ) दुर्मिक्ष

आज की ही तरह प्राचीन युग में भी कभी कभी अधिक जल (अति वृष्टि) बरस जाता था और कभी कभी कम वर्षा के कारण (अनावृष्टि) सूखा पड़ जाता था इसके फलस्वरुप फसलें नष्ट हो जाती थीं तथा दुर्मिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। कभी-कभी चिडियों, कीड़ों मकोड़ों, रोगों एवं टिडिड्यों के भी कारण दुर्मिक्ष की स्थिति आ जाती थी। इसके अतिरिक्त युद्ध काल में सेना द्वारा सारी फसले रौंद दी जाती थी तथा खेत खलिहान जला दिये जाते थे, इसके कारण भी दुर्मिक्ष की स्थिति आ जाती थी। अतः मुख्यतः दुर्मिक्ष के चार कारण थे।

(1) अतिवृष्टि (बाढ़)

(2) अनावृष्टि (सूखा)

(3) रोग तथा टिडिड्यॉं

(4) युद्ध तथा सेना

जब दुर्मिक्ष हल्का होता था तो राज्य द्वारा प्रजा की सहायता कर दी जाती थी। मगर जब लम्बी

अवधि तक तथा अधिक क्षेत्र मे फैला हुआ होता था तो वहाँ के नागरिक वह राज्य छोड़ अन्यत्र चले जाते थे।

अतः मनुष्य आदि काल से ही प्रकृति के प्रकोप से डरता था तथा उसकी पूजा करता था।

अथर्ववेद में हमे बिजली, सूखा तथां बाढ के प्रभाव को समाप्त करने सम्बन्धित मंत्र मिलते है।[206] अथर्ववेद में ही जल्दी तथ उचित मात्रा में वर्षां होने के लिए भी मंत्रों का उल्लेख मिलता है।[207] अच्छे मौसम के लिए भी प्रार्थनाओं का उल्लेख अथर्ववेद में है।[208] मौसम के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने वाले व्यक्ति का भी उल्लेख अथर्ववेद मे मिलता है।[209] टिडिड्यों तथा फसलो के लिए नुकसान दायक कीटों को नष्ट करने के लिए भी मंत्रों का उल्लेख है।[210]

उपनिषद् में टिडिड्यों द्वारा फसल के नष्ट होने के फलस्वरुप पड़ने वाले दुर्भिक्ष का उल्लेख मिलता है। इस दुर्भिक्ष के ही कारण ऋषि चाक्रायण को कुरु प्रदेश छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा तथा कुल्माष खाकर जीवन यापन करना पड़ा।[211] अतः दुर्भिक्ष के कारण लोगों को अपना घर छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ता था तथा मांस इत्यादि भी खाना पड़ता था।

दुर्भिक्ष पीडित व्यक्तियों के द्वारा साँप का माँस खाने का उल्लेख मिलता है।[212] सुत्तनिपात में वैशाली के नागरिकों को सूखा तथा प्लेग से बचाने के लिए भूतो की पूजा करने का उललेख् मिलता है।[213] दुर्भिक्ष के समय जनता खाद्य वस्तुओं के उपयोग समझ बूझकर करती थी तथा संघ के कुछ चुने भिक्षुओं को ही भोजन कराती थी।[214]

डायोडोरस के अनुसार भारत की सभी भूमि उपजाऊ थी तथा नदियों से सिंचाई होने के कारण पर्याप्त मात्रा में अन्न उपजता, इसीलिए ऐसे दुर्भिक्ष उस समय नहीं पड़ते थे कि महामारी की स्थिति आ जाये।[215]

महाकाव्य काल तक जब योग्य भूमि के विस्तार के लिए बड़े-बड़े जंगल काटे जाने लगे तो वर्षा की कमी हो गई तथा दुर्भिक्ष की संभावना बढ़ गई।[216] दुर्भिक्ष के कारणा ऋर्षि विश्वामित्र के अपना स्थान छोड़कर जाने का भी उल्लेख मिलता है।[217] रामायण में दस वर्षो वाले दुर्भिक्ष का उल्लेख मिलता है।[218] महाभारत में कुछ राज्य के 12 वर्ष तक चलने वाले दुर्भिक्ष का उल्लेख मिलता है।[219] महाभारत

मे ही एक अन्य 12 वर्षीय दुर्मिक्ष का उदाहरण् भीं मिलता है। महाभारत के अनुसार सारे कुएँ, झील आदि सूख् गये थे तथा महामारी की स्थिति आ गई थीं। लोग एक दूसरे का अन्न लूटने लगे थे। ये सभी वर्णन काल्पित प्रतीत होते है। सभवत: इनका वर्णन धार्मिक कारणों से किया जाता था। भारतीय इतिहास के स्त्रोत मुख्यत: धार्मिक ग्रन्थ है। इस काल की मान्यता थी कि राजा के पाप के कारण दुर्मिक्ष पड़ता है। राजा को प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों का ध्यान दिलाने के लिये ही इस प्रकार के उदाहरणों की कल्पना की गई होगी। धार्मिक शिक्षा देने के लिये ही अनेक बातों को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा गया है।

जातक कथाओं से स्पष्ट है कि दुर्मिक्ष् के कारण प्रजा को कष्ट पड़ने पर सारा उत्तरदायित्व राजा का होता था।[220] कौटिल्य के अनुसार दुर्मिक्ष के समय राजा को कर माफ कर देना चाहिए।[221] जातक तथा महाभारत में दुर्मिक्ष का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन के पीछे आशय राजा तथा प्रजा को नैतिकता की शिक्षा देना रहा होगा। लेखक यह दिखलाना चाहता था कि राजा तथां प्रजा के पापों के ही कारण ईश्वर दण्ड देता है। वास्तविकता यह है कि प्राचीन काल में ऐसे दुर्मिक्ष् नहीं पड़ते थे, जैसे आजकल पड़ते है।

टिडिड्यो, चिडियों, पशुओं तथा चोरों के कारण भी फसल नष्ट हो जाती थी।[222] बीमारियों के कारण भी फसल नष्ट होने के उदाहरण मिलते है।[223] ओलों से भी फसल के नष्ट होने का उल्लेख मिलता है।[224] गुप्तकाल में भी दुर्मिक्ष के कई उल्लेख मिलते है।[225] वराहमिहिर ने अत्याधिक वर्षा के कारण आने वाले बाढ़ के फलस्वरुप पड़ने वाले दुर्मिक्ष का उल्लेख किया है।

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अमिलेख के अनुसार सुदर्शन भील का बाँध टूट जाने के कारण आस पास का सारा क्षेत्र जल-मग्न हो गया था तथा दुर्मिक्ष की स्थिति आ गई थी।[226] वराहमिहिर ने सूखा के कारण पड़ने वाले दुर्मिक्ष का भी उल्लेख किया है।[227] जंगली पशुओं, चूहों, टिडिड्यो तथा चिड़ियों का उल्लेख के कारण भी भरी मात्रा में फसल बर्बाद किये जाने का उल्लेख मिलता है।[228]
मेंगस्थनीज के अनुसार मौर्य काल मे पशुओं तथा चिड़ियों को मारने वाले शिकारी पुरष्कृत किये जाते थे।[229]

वराहमिहिर ने भूचाल, ओलों तथा पशुओं और मनुष्यों की महामारियों के कारण भी फसल के

नष्ट होने का उल्लेख किया है।[230] ये भी दुर्मिक्ष के कारण बनते थे।

दुर्मिक्ष का एक कारण युद्ध भी था।[231] मगर गुप्त काल में शान्ति व्यवस्था के कारण दुर्मिक्ष युद्ध के कारण नहीं पड़े। युद्धों द्वारा फसलों के नष्ट होने के प्रमाण् कौटिल्य के पहले नही मिलते। ग्रीक राज्यों मे युद्ध होने पर शत्रु देश की फसले नष्ट कर दी जाती थी, किन्तु भारत में इस विचार का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही मिलता है।

1. ऋग्वेद, 1, 117, 21.
2. तैत्रि० सं०, 4, 2 और 7, 2, 10.
3. तैत्रि० सं० 5, 1, 7, 3.
4. तैत्रि० सं० पृ० 10.
5. ओमप्रकाश, फूड एंड ड्रिंक्स इन एशिएंट इण्डिया, पृ० 11 टिप्पणी 6.
6. ओमप्रकाश, वही, पृ० 11 टिप्पणी 5.
7. ओमप्रकाश, वही० पृ० 21.
8. ओमप्रकाश, वही० पृ० 20.
9. ओमप्रकाश, वही० पृ० 22.
10. ओमप्रकाश, वही० पृ० 20.
11. बन्धोपाध्याय,, इकनोमिक लाइफ एंड प्रोग्रेस इन एंशियेंट इंरेडिया, पृ० 132.
12. ओमप्रकाश--उपर्युक्त पृ० 39 टिप्पणी 2.
13. ओमप्रकाश, वही पृ० 35 टिप्पणी 6, 7.
14. ओमप्रकाश, वही पृ० 37.
15. ओमप्रकाश, वही पृ० 41.
16. ओमप्रकाश, वही पृ० 42.
17. ओमप्रकाश, वही पृ० 42.
18. रामायण, अयोध्याकांड, 3, 14.
19. रामायण, 2, 50, 8-11, 2, 100, 44-45, 2, 52, 101; महाभारत 4, 30, 8.
20. रामायण, अयोध्याकांड, 68.
21. रामायण, 1, 5, 17.
22. रामायण, उत्तर, 91, 20.
23. रामायण, अयोध्याकांड, 32, 20.
24. रामायण, अरण्य, 25, 2.
25. रामायण, उत्तर, 42, 33.

26. रामायण, अयोध्याकांड, 94, 8.

27. महाभाष्य, 2, 3, 19.

28. मनु0, 9, 330; 9, 38-39; 6, 11; 10, 84;

29. वा0 सं0, 18, 12; 19, 22; 21, 29, 7; 10, 24.

तै0 सं0, 51, 7, 3.

30. वृ0 उ0 6,3-1

31. अष्टाध्यायी, 5, 2, 2; 5, 2, 3; 5, 2, 4, 3.

32. अष्टाध्यायी, 8, 4, 5; 4, 4, 103.

33. अष्टाध्यायी, 4, 1, 12.

34. अष्टाध्यायी, 5, 2, 1.

35. जातक, 2, पृ0 74, 1, 429; 5, 37; 1, 429; 2, 135; 3, 383; 4, 276; 5, 405; 6, 530; 2, 240; 6, 539; 4, 364;

36. जातक, 1, 244; 2, 363; 3, 225; 5 120; 6, 536;

37. जातक, 6, 529.

38. वृहत्कल्प भाष्य, 1, 826.

39. व्यवहार भाष्य, 10, 557-560.

40. वृहत्कल्प भाष्य, 1, 828, आचारांग, 2, 1, 8, 268.

41. आचारांग, 2, 1, 8, 266 नायाधम्म कहा, 1, 10.

42. स्ट्रैबो, 151, 16, 20.

43. स्ट्रैबो, 15, 1, 13. फ्रैग्मेंट, 32.

44. मैक्रिंडिल, पृ0 125.

45. मैक्रिंडिल, पृ0 28.

46. कौटिल्य, 2, 24, 16.

47. कौटिल्य, 2, 15, 21.

48. कौटिल्य, 2, 15, 19.

49. कौटिल्य, 2, 12, 9.

50. पतंजलि सूत्र, 2, 3, 136.

51. पतंजलि सूत्र, 5, 1, 20.

52. पतंजलि सूत्र, 6, 3, 42.

53. पतंजलि सूत्र, 1, 1, 1.

54. चरक, सूत्र, 27, 7-8.

55. चरक, सूत्र, 27, 11.

56. चरक, सूत्र, 27, 15-17.

57. सुश्रुत, सूत्र, 46, 21.

58. जातक, 1, 212; 4, 445.

59. डायोडोरस, 2, 36.

60. पेरीप्लस, 41.

61. दीर्घ निकाय, 23, 29.

62. कामंदकी नीतिसार, 2, 14.

63. बृहत् संहिता, 5, 21, 9, 42, 10, 18, 27, 1.

64. अमरकोष, 9, 6-8.

65. अष्टांग संग्रह 7, 3-12.

66. रघुवंश, 4, 36-37.

67. बील, सी यू की, 2, 82.

68. अमरकोष 3, 9.

68. वाटर्स, 1, पृ0 306, 2, पृ0 81.

70. हर्षचरित, 3.

71. बील, पृ0 43-44.

72. अष्टांग संग्रह, सूत्र 7, 19.

73. अष्टांग संग्रह, सूत्र 7, 14-22.

74. अमरकोष, 1, 4, 118, 120, 148, 149, 156.

75. रघुवंश 4, 20.

76. अमरकोष, 4, 116.

77. अमरकोष, 9, 20.

78. अमरकोष, 9, 17.

79. अमरकोष, 9, 19.

80. अमरकोष, 9, 20.

81. रघुवंश 4, 67. अमरकोष, 2, 124.

82. वाटर्स, 1, 261, 298.

83. अमरकोष, 4, 126.

84. अमरकोष, 4, 125.

85. अमरकोष, 9, 37.

86. अमरकोष, 9, 35.

87. अमरकोष, 4, 44.

88. अमरकोष, 4, 97.

89. अमरकोष, 4, 134.

90. अमरकोष, 4, 74.

91. अमरकोष, 9, 41.

92. रघुवंश 6, 57. कुमारसंभव 8, 25.

93. बृहत् संहिता 10, 12.

94. रघुवंश 4, 45-48. अमरकोष, 2, 6, 31. वाटर्स, 2, 193, 288.

95. कास्मास, 11, 364.

96. अमरकोष, 4, 108. पृ0 108.

97. अमरकोष, 4, 113. पृ0 109.

98. अमरकोष, 4, 65. पृ0 97.

99. अमरकोष, 4, 33. पृ0 88.

100. अमरकोष, 4, 38. पृ0 90.

101. अमरकोष, 4, 61. पृ0 96.

102. अमरकोष, 4, 10. पृ0 353.

103. अमरकोष, 4, 169. पृ0 123.

104. अमरकोष, 4, 170. पृ0 124.

105. रघुवंश 4, 38, 42.

106. रघुवंश 4, 34.

107. महाबग्ग 3, 1-3, चुल्लबग्ग, 5, 32, 1.

108. जैकोबी जैत सूत्रास 2, पृ0 357.

109. कौटिल्य 2, 2.

110. स्तंभ लेख 5.

111. मनुस्मृति 11, 65.

112. महाभारत 12, 32, 14, 12, 36, 34.

113. महाभारत 13, 2, 4, 12.

114. कौटिल्य 4, 11.

115. रामायण 4, 41, 41.

116. रामायण 5, 61, 63.

117. रिज डेविड्स डायलॉग्स ऑफ दि बुद्ध, खंड 1, पृ0 223.

118. मज्झिम 1, 205, 3, 155.

119. कौटिल्य 2, 6.

120. कौटिल्य 2, 1-2.

121. कौटिल्य 7, 12.

122. कौटिल्य 2, 17 पृ0 100.

123. कौटिल्य 7, 14.

124. कौटिल्य 2, 17.

125. कौटिल्य 2, 17.

126. कौटिल्य 1, 437.

127. फ्लीट पृ0 7.

128. फ्लीट पृ0 114.

129. बृहत्संहिता 14, 24, 30.

130. रघुवंश 3, 31.

131. रघुवंश 4, 65.

132. ऋतुसंहार खण्ड 6.

133. मेघदूत खण्ड 2, 13.

134. कुमार संभव 1, 13.

135. रघुवंश 5, 72, 17, 21.

136. रघुवंश 4, 31, 36, 14, 30, 16, 68.

137. रघुवंश 1, 38.

138. कुमार संभव 4, 40.

139. कुमार संभव 4, 89.

140. कुमार संभव 6, 27.

141. रघुवंश 4, 40.

142. रघुवंश 6, 35, 14, 30.

143. मालविका, 3, पृ0 1043.

विक्रमोर्वशीयम् 2, पृ0 1150.

143. रघुवंश 12, 3.

144. फ्लीट पृ0 50.

145. एपि0 इंडि0 12, पृ0 139.

146. हिन्दू ऐविन्यू सिस्टम, पृ0 292.

147. वैदिक एज, पृ0 399.

148. ऋग्वेद 4, 15, 6, 8, 22, 2, 7, 55, 3, 1, 191, 4.

149. ऋग्वेद 5, 4, 11.

150. बन्धोपाध्याय, इकनामिक लाइफ एंड प्रोग्रेस इन एंशियंट इंडिया, पृ0 139-141.

151. वैदिक एज, 465.

152. ऋग्वेद 6, 48, 18.

153. ऋग्वेद 5, 29, 8, 6, 17, 11, 7, 12, 8, 77.

154. ऋग्वेद 2, 34, 3, 5, 61.

155. ऋग्वेद 1, 163.

156. ऋग्वेद 8, 46.

157. ऋग्वेद 8, 5, 8, 46.

158. अथर्ववेद 20, 137, 2.

159. ऋग्वेद 10, 26.

160. शतपथ ब्राम्हण, 3, 4, 1, 2.

161. ऐत. ब्राम्हण, 3, 4, 15.

162. ऋग्वेद 8, 33, 8.

163. वही 8, 33, 8

164. वैदिक एज पृ0 530.

165. कौटिल्य 1, 4, पृ0 8.

166. रामायण, 2, 67, 12, 2, 100, 45.

167. महाभारत, 2, 5, 79, 2, 13, 2, 12, 88, 28.

168. मनुस्मृति 9, 327.

169. अंगुत्तर 1, 205 जातक 194, 3, 149.

170. कौटिल्य 3, 13.

171. सुत्तनिपात 1, 2.

172. महाबग्ग 34, 19.

173. कौटिल्य 2, 29.

174. जातक 3, 401.

175. जातक 3, 479.

176. दीघनिकाय 24, 2, 5. कौटिल्य 2, 29.

जातक 1, 388, 3, 149, 479.

महाभारत 7, 1, 24, 7, 95, 23.

177. कौटिल्य 2, 29.

178. मज्झिम 1, 220, 4.

179. अंगुत्तर 5, 350.

180. कौटिल्य 2, 20.

181. महाभारत 6, 4, 13 के आगे।

182. महाबग्ग 6, 23, 10 के आगे।

183. मिलिन्द पञ्ह पृ0 192।

184. महाभारत 13, 102, 13।

185. स्ट्रेबो 15, 1, 41 के आगे।

186. प्लिनी 6, 22.

एरियन 17.

187. बोस, वही, पृ0 113-114.

188. कौटिल्य 2, 29.

189. महाभारत शान्ति 261, 37 के आगे 13, 23 37, 14, 28, 16 के आगे।

190. शिलालेख 2, स्तंभ लेख 2 और 7.

191. कौटिल्य 2, 29.

192. कौटिल्य 3, 10.

193. कौटिल्य 3, 19.

194. कौटिल्य 2, 35.

195. बृहत्सहिता 56, 5-19.

196. फ्लीट पृ0 32.

197. नारद 33.

198. रघुवंश 5, 50 और 9, 74.

199. ला डाइजेस्ट ऑफ जस्टीनियन पृ0 606

200. रघुवंश 4, 25.

201. रघुवंश 5, 32.

202. रघुवंश 9, 53.

203. मनुस्मृति, 8, 296-298.

204. मैती, वही, पृ0 245-253.

205. नारद 6, 11-17, 11, 30, 34.

206. अथर्ववेद, 7, 11.

207. अथर्ववेद, 4, 15.

208. अथर्ववेद, 6, 128.

209. अथर्ववेद, 6, 12, 1-4.

210. अथर्ववेद, 7, 50 और 52.

211. छांदोग्य उपनिषद् 1, 10, 1-13.

212. महाबग्ग 6, 23, 10 के आगे।

213. सुत्तनिपात 2, 1.

214. चुल्लबग्ग 6, 21, 1.

215. डायोडोरस 2, 36.

216. रामायण, 2, 70.

महाभारत 1, 230, 9, 41, 14, 10, 10, 5.

217. महाभारत 1, 71, 31.

218. रामायण, 2, 117, 9 के आगे।

219. महाभारत 1, 175, 38-46.

220. जातक 2, 367 के आगे, 5, 139 के आगे, 6, 48.

221. कौटिल्य 2, 1.

222. जातक 4, 277, 5, 336, 4, 262, 1, 193, 153, 154.

223. चुल्लबग्ग 10, 1, 6, अगुत्तनिकाय 4, 279.

224. रामायण 3, 34, 39.

मिलिन्द पञ्ह, पृ0 308.

225. मैती, वही, 1 पृ0 245, 253.

226. फ्लीट, 56.

227. मैती, वही, 1, पृ0 245, 256

228. मैती, वही, 1, पृ0 245, 256

229. मैक्रिडिल, मेगस्नीज एंड एंरियन पृ0 84.

230. मैती, वही, 1.

231. मैती, वही, 1.

अध्याय ४
राजस्व - व्यवस्था

अध्याय 4

राजस्व व्यवस्था

प्राचीनकाल से ही भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। अतः कृषि-कर ही राजस्व व्यवस्था का मूल आधार रहा। प्राचीन भारतीय राजकीय कराधान के अधिकार को समझने के लिए भूमि के सम्बन्धं में राजा की स्थिति पर विचार करना आवश्यक है। अतः यह जानना आवश्यक है कि भूमि पर बिरादरी का स्वामित्व था, या किसी खास व्यक्ति का, या स्वयं राजा का। भूमि स्वामित्व के विषय में पूर्व मे बताया जा चुका है। सृष्टि के प्रारम्भ में अराजकता थी। कबीलों ने वीर पुरुष को मुखिया माना जो कि कबीलों के बाद को निपटाता था। क्रमशः राजा की उत्पत्ति हुई। वह ही भूमि का स्वामी माना गया। उसने प्रजा को रक्षा का बचन दिया तथा प्रजा ने उसके प्रति निष्ठा रखने एवं कर देने का वचन दिया। इस प्रकार राजा का कर लेने का अधिकार राज्य के उदय के समय जो सम्बन्ध राजा तथा प्रजा में था उसी पर आधारित था।

ऋग्वैदिक काल में राजा कबीलों की रक्षा करता था तथा अन्य कबीलों से युद्ध कर विजय प्राप्त करता था। इस रक्षा कार्य के बदले कबीले के लोग अपनी इच्छानुसार 'बलि' देते थे। इसलिए राजा को 'बलिहृत' शब्द से सम्बोधित किया गया है।[1] संभवतः यह बलि अनाज, पशु आदि के रुप में होती थी। जिन कबीलो को युद्ध मे पराजित किया जाता था उसको भेंट या बलि देने के लिए बाध्य किया जाता था।[2] अतः राजा कबीलों की रक्षा करता था। तथा उस रक्षा कार्य के एवज मे 'बलि' नामक कर मिलता था। हारे हुए कबीले भी इसी प्रकार का कर राजा को देते थे। ऋग्वेद के ही एक उपमा में राजा को 'खा जाने वाला,'[3] सम्बोधित किया गया है। अनेक विद्वान इसका विश्लेषण करते हुए इसका तात्पर्य प्रजा पर अत्याचार करने वाला घोषित करते हैं, जबकि वास्तव में इसका अर्थ यह था कि राजा अपने व्यय हेतु प्रजा द्वारा दिये गये करों पर निर्भर हो गया था। प्रारम्भ मे ऋग्वैदिक काल में कबीले के लोग स्वेच्छा से खुश होकर बलि देते थे मगर उत्तरवैदिक काल तक आते-आते बलि देना अनिवार्य कर दिया गया।[4] अथर्ववेद में तो ग्राम, तथा घोड़ो में राजा के एक भाग का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[5] प्रारम्भ में क्षत्रिय ही राजा होते थे अतः वह बलि पर निर्भर थे, मगर बाद में ब्राहृण भी अपने निर्वाह के लिए बलि पर निर्भर

हो गये तथा उनसे कर नही लिया जाता था।[6] अथर्ववेद में 'शुल्क' का भी उल्लेख है।[7] गौतम के धर्म सूत्र के अनुसार प्रजा राजा कोस्न इसलिए कर देती है। क्योंकि वह प्रजा की रक्षा करता है।[8] वशिष्ठ[9] तथा गौतम[10] के धर्म सूत्र तथा मनुस्मृति[11] मे भी 'बलि' का उल्लेख मिलता है, मगर वहाँ यह कर के रूप मे था। अतः उत्तरवैदिक काल के अंत तक 'कर' एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुका था। धर्मसूत्रों में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख है कि, राजा प्रजा से केवल वैध कर ही वसूल कर सकता था।[12] कर के सम्बन्ध में मनु अपने ग्रंथ में लिखते हैं कि, 'कर' शास्त्रानुसार ही प्रजा से लिया जाना चाहिए।[13]

महाभारत मे भी एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो 'कर' शास्त्र सम्मत नहीं होते उसे वसूलने से राजा का स्वयं ही नुकसान हाता है।[14] प्राचीनकाल की कर प्रणाली की एक अन्य विशेषता यह प्रतीत होती है कि इसमे करदाता की आर्थिक क्षमता और राज्य के मध्य सामंजस्य स्थापित था। जैसा कि शान्तिपर्व[15] तथा मनुस्मृति[16] में उल्लिखित है कि, कर सदैव इस प्रकार लगाए जाने चाहिए कि राज्य और उत्पादक दोनों ही उसके परिणामों के साझीदार बन सके। शान्तिपर्व के एक श्लोक के अनुसार राजा को चाहिए कि वह अपनी पिपासा के कारण अपने और दूसरे के आधार को ही नष्ट न कर दे1, उसे ऐसे कार्यों से बचना चाहिए जिससे लोग उससे घृणा करने लगे।[17] मनु भी अपने ग्रंथ में यह लिखते है कि, राजा अपने सार-तत्व को नष्ट करके न केवल अपने को वरन् दूसरों को भी दुःख पहुँचाता है।[18] मनु पुनः एक स्थान पर लिखते हैं कि राजा अगर आर्थिक संकट में भी हो तो भी उसे अनुचित कर नहीं लेना चाहिए।[19]

आचार्य कौटिल्य, अपने ग्रंथ में यह लिखते है कि राजा को अपने बाग से पके फल ही तोड़ने चाहिए, कच्चे फलों को नही, वरना प्रजा अगर क्रोधित हो गई तो राजा का विनाश हो जायगा।[20] शान्तिपर्व में यह उल्लिखित हैं कि, जिस प्रकार गाय का थन काट कर व्यक्ति दूध नही प्राप्त कर सकता उसी प्रकार अनुचित साधनों से पीड़ित राज्य राजा को कोई लाभ नही दे सकता और जिस प्रकार दूध प्राप्त करने के लिए गाय को पाला जाता है उसी प्रकार उचित प्रकार से शासन करने वाला राजा ही लाभ प्राप्त कर सकता है जिस प्रकार एक माँ अपने पुत्र को सहर्ष दुग्धपान कराती है उसी प्रकार राजा को भी सहर्ष पृथ्वी की सुरक्षा करनी चाहिए तथी पृथ्वी उसे अन्न तथा नगद दोनों दे सकती हैं। राजा

द्वारा अत्यधिक शोषण करने से प्रजा तथा राज्य कोई भी प्रगति नहीं कर सकता।[21] शान्तिपर्व में ही एक अन्य स्थान पर यह उि्ल्लखित है कि, जिस प्रकार गाय का दूध दुहने के बाद पर्याप्त मात्रा में छोड़ दिया जाता है और तब बछड़ा उस दूध पर मजबूत होता हैं तथा उसकी परिश्रम करने की क्षमता बढ़ जाती है, परन्तु जब गाय से अधिक दूध का दोहन कर लिया जाता है ता बछड़ा भी दुर्बल और शक्तिहीन हो जाता है। उसी प्रकार राजा जब प्रजा का अत्यधिक शोषण करने लगता है तो प्रजा उन्नति नहीं कर सकती।[22] कामन्दक के भी अनुसार राजा को कर वसूलने के मांमले मे ग्वाले या माली की तरह ही कार्य करना चाहिए।[23] उपरोक्त विवरणों से यही प्रतीत होता है कि यद्यपि कर राजा की प्रमुख आवश्यकता थी तथा राजा उचित विधि-विधान के अनुसार शास्त्र सम्मत कर ही वसूल सकता था।

भूमि कर का अनुपात

समस्त प्राचीन ग्रन्थों में भूमि कर के अनुपात के सम्बन्ध में अत्यधिक विरोधाभास है और भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न दरें प्रचलित थीं। इसके अतिरिक्त भूमि की किस्म भी भू-राजस्व निर्धारित करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थी। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार राजा प्रजा से उसकी रक्षा करने के बदले मे प्रजा की आय का छठवाँ भाग पारिश्रमिक स्वरुप प्राप्त कर सकता था।[24] गौतम भू-राजस्व की तीन दरों का उल्लेख करते है- 1/6 भाग, 1/8 भाग तथा 1/10 भाग।[23] गौतम धर्मसूत्र के टीकाकार हरदत्त के अनुसार ये तीन दरें खेत की मिट्टी की किस्म पर निर्भर करती थी।[26] अर्थात् अधिक उपजाऊ मिट्टी वाली कृषि योग्य भूमि पर अधिक और कम उपजाऊ मिट्टी वाले खेतों से कम भू-राजस्व वसूला जाता था। आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में 'षड्भाग' नामक एक कर का उल्लेख किया है।[27] कौटिल्य पुनः एक स्थान पर यह लिखते हैं कि राजा द्वारा लिया जाने वाला उपज का छठवां भाग ही भू-राजस्व की दर थी- धन्य षड् भाग।[28] नारद और विष्णु के अनुसार, भी राजा उपज का छठवॉ भाग भू-राजस्व के रुप में प्राप्त कर सकता था।[29] मनु भी अपने ग्रथ में यह लिखते हैं कि- "धान्यानामष्टमो भाग षष्ठो द्वादश एव वा" अर्थात राजा उपज का छठवाँ अथवाँ या बारहवॉ भाग प्राप्त कर सकता था।[30] एक अन्य स्थान पर मनु लिखते हैं कि-

"चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि।
प्रजा रक्षन्पर शक्त्या किल्विषात्प्रतिमुच्यते।।"[31]

अर्थात्-राजा आवश्यकता पड़ने पर प्रजा से उपज का चौथा भाग भी ले सकता था। आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में तेरह राजकरों का उल्लेख किया है- जिसमें 'भाग' नामक कर कृषि उत्पादन पर लगाया जाने वाला कर था-"सीताभागोबलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पट्टनं विवशच वर्तनी, रज्जूश्चोररज्जूशच राष्ट्रम्।[32] कौटिल्य ने 'बलि' नामक कर का भी उल्लेख किया है जो संभवतः उपहार अथवा माँगने पर प्राप्त होन वाला धन था। अगर राजकीय भूमि पर कृषक राजा की आज्ञा से कृषि कार्य करते थे तो वे राजा को उपज का आधा भाग प्रदान करते थे और मजदूरों को उपज का 1/4 अथवा 1/5 भाग ही मिलता था। खेती हो चाहे न हो कृषक को राजा का भाग देना ही पड़ता था। कृषक भू-राजस्व के साथ-साथ जलकर भी राजा को देता था जिसे 'उदक-भाग' भी कहा जाता था। स्व परिश्रम से खोदे गए कुँए अथवा तालाबों से अपने खतों की सिंचाई करने पर भी कृषक को अपनी उपज का 1/4 और सरकारी नहर से सिंचाई करने पर उपज का 1/3 भाग राजा को जलकर के रुप मे देते थे।[133] जैसा कि आचार्य कौटिल्य भी उपरोक्त तथ्यों का वर्णन अपने ग्रंथ में करते हें - 'यथेष्ट मनबसित भाग दद्युरन्यतकृच्छेभ्यः स्वसतुमयो हस्तप्रावर्तितमुदक भाग पंचम दद्यः। स्कन्ध प्रावर्तिमं चतुर्थम्। स्त्रोतोयंत्र प्रावर्तिम च तृतीयाम।[34] एक अन्य स्थान पर पुनः कौटिल्य यह लिखते हैं कि-" बापततिरिक्तमर्धसीतिकाः कुर्युः स्ववीर्योपजीविना वा चतुर्थ षंचभागकाः। यथेष्टमनवसितं भागं दद्युरन्यत्र कृच्छेभ्यः।[35] स्वसेतुभ्यो हस्तप्रखर्तितमुदकं दद्युः स्कन्ध प्रावर्तिमं च तृतीयाम्। एक अन्य स्थान पर पुनः कौटिल्य यह लिखते हैं कि--

"वापततिरिक्त् मर्धसीतिकाः कर्मुः स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थं पंच भागिकाः। यर्थण्ट मनवसित भागं दद्युरन्यत कृच्छेभ्यः अर्थात- भूमि की उपयुक्तता तथा सिंचाई के साधन से उसकी सम्पन्नता को ध्यान में रखते हुए भू-राजस्व का निर्धारण किया जाता था। वर्षा बीज और किसान की मेहनत को ध्यान में रखते हुए उपज का 1/3 या कम से कम उपज का 1/5 भाग भू-राजस्व के रुप में वसूल किया जाता

था। प्रसिद्ध विदेशी पर्यटक मेगरस्थनीज भी यह लिखता है कि भू-राजस्व उपज का 1/4 भाग राजा कृषक से वसूलता था।[36] महाकाव्यकाल मे भी संभवतः कृषकों से 1/10 भाग भू-राजस्व के रुप में वसूले जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत में भी अनेक स्थानों पर यह उल्लिखित है कि, 1/10 भाग से लेकर 1/6 भाग तक कृषि कर के रुप मे राजा वसूलता था। सम्राट अशोक के रुम्मनदेई अभिलेख के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि, उसने बुद्ध के जन्म स्थान से प्राप्त होने वाले भू-राजस्व को कम करके 1/8 भाग करने का अधिकारियों का आदेश दिया। परन्तु राजा का भाग 1/4 ही उपज का प्राप्त किया जाता था, लावारिस धन में से भी राजा को 1/6, 1/10 या 1/12 भाग प्राप्त होता था। इस तथ्य का उल्लेख मनु[37] ने भी अपने ग्रंथ में इस प्रकार किया है-

"ममेदमिति यो ब्रू यात्सोडनुयोज्यो यथा विधि।
संवाद्य रुपसंख्यादीन्स्वामी तद्द्रव्यमर्हति।।
अवेदयानो न नष्टस्य देश काल च तत्वतः।
वर्ण रुपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति।।
आददीताथ षडभागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः।
दशमं द्वादशं वाडपि सतां धर्म मनुस्मरन्।।"[38]

महाभारत में भी यह उल्लिखित है कि-

"न चास्थाने न ककाले करास्तेत्योनिपाश्येत। अनपूर्वेण सान्त्वेन यथाकाले यथाविधि।।"

अर्थात भू-राजस्व प्रायः उपज को ध्यान में रखकर ही लगाया जाता था तथा ब्राह्मण स्त्रियों और बच्चों से किसी भी प्रकार का राजस्व नहीं वसूला जाता था। गौतम विष्णु और वृहस्पति के अनुसार भू-राजस्व संभवतः 1/6 1/8 या 1/12 भाग राजा को दिया जाता था।[40] सोमेश्वर भी यह लिखते हैं कि, राजा को भूमि की उर्वरता के ही आधार पर 1/6, 1/8 या 1/12 भाग अन्न-उत्पादन का प्राप्त होता था।[41] यद्यपि भिन्न-भिन्न कर भिन्न-भिन्न समय में लगाए जाने का उल्लेख समकालीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है तथापि भू-राजस्व निर्धारण के समय भूमि की उर्वरता, उपज, सिंचाई आदि बातों

का निश्चित रुप से ध्यान रखा जाता था। जैसा कि कौटिल्य अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र में यह लिखते हैं कि-"प्रभूत धान्यं धान्यस्यांश तृतीयं चतुर्थ वा याचे।"[42] और मनु भी अपने ग्रंथ में यह लिखते हैं कि-"चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि। प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्विषात्प्रतिमुच्यत।।"[43] अर्थात-सुख और समृद्धि के समय राजा 'षड्भाग' ही प्राप्त करता था किन्तु प्रभूत धान्य होने पर या विशिष्ट परिस्थितियों अर्थात विपत्ति आदि के समय राजा 1/3 या 1/4 भाग प्राप्त कर सकता है। कौटिल्य अपने ग्रंथ में यह भी लिखते हैं कि राज्य को कर तभी मिल सकता कि प्रजा भरपूर उत्पादन करे।[44] वह फिर यह लिखता है कि राजा को उपज का 1/6 भाग कर के रुप में लेना चाहिए।[45] महाभारत में भी यह उल्लिखित है कि, राजा को राजकोष अनाज से परिपूर्ण कर लेना चाहिए।[46] अर्थात महाभारतकाल में प्रायः अनाज के रुप में ही भूराजस्व वसूल करना चाहिए।

सम्राट अशोक के रुम्मिनदेई अभिलेख से यह ज्ञात हाता है कि मौर्यकाल में भू-राजस्व की दर अपेक्षाकृत ऊंची थी। गुप्तकाल के अभिलेखों में भी भूराजस्व की कोई स्पष्ट दर नहीं उल्लिखित है, तथापि गुप्तकालीन पुरालेखो से प्राप्त 'धर्मषड्भाग' पद से यह पता चल सकता है कि षष्ठांश की दर ही प्रचलित दर थी। अर्थात मौर्यकाल की अपेक्षा गुप्तकाल में राजा के सामान्य भाग की वसूली निम्नतर दर पर होती थी।

भूराजस्व के प्रकार-

'बलि' राजकीय राजस्व के लिए प्राचीनतम आर्य शब्द है। बाद में कृषकों पर तरह-तरह के कर लगने लगे। यथा-भाग, भोग, धान्य, हिरण्य, उद्रंग, उपरिकर, उदक भाग, प्रतिभाग, हालिकारक, दित्य, मेय या तुत्प्यमेय, पिण्डकर तथा शुल्क। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष आपातकालीन कर थे। यथा-विष्टि तथा प्रणय। पशुकर तथा सिंचाई कर का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त उत्संग, क्लृप्त तथा उपक्लृप्त नामक करों का भी उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद क अनुसार 'बलि' प्रजा द्वारा विजेता राजा को स्वेच्छापूर्वक दिया जाने वाला उपहार है।[47] प्रारम्भ में इसका स्वरुप उपहार के रुप मे था, मगर आगे चलकर राजीभाग के रुप में वसूला जाने

लगा तथा अनिवार्य कर दिया गया। मैकडॉनिल तथा कीथ के अनुसार 'बलि' प्रजा की इच्छा पर पूर्णता निर्भर नही थी तथा प्रारम्भ से ही कर के रुप मे थी।[48] पूर्व वैदिक काल के आदिम राज्य मात्र स्वैच्छिक अशदान पर टिके हों, इसकी संभावना कम है। ब्राह्मण काल मे 'बलि' प्रजा द्वारा देय अनिवार्य अंशदान के रुप मे जानी जाती थी।[49] अतः यदि यह प्रारम्भ में स्वैच्छिक थी तो वाद में नाममात्र की स्वैच्छिक रहो होगी। इसी प्रकार का उदाहरण असीरिया राज्य का कर 'दान' है। प्रजा को नियमित कर भुगतान करने के लिए बाध्य किये जाने पर भी इसका नाम दान था। अतः हो सकता है कि राजस्व शब्दावली तथा वास्तविकता में अन्तर्विरोध रहा हो। परवर्ती कालों में राजस्व नामावली के क्रमिक विकास तथा करारोपण की नई मदों के साथ ही 'बलि' शब्द का स्वरुप बदलता चला गया। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने 'बलि' शब्द का प्रयोग उपज में राजा के सामान्य अंश के अलावा मूलतः छोटे उपज के कर रुप में किया है।[50] जातकों के अनुसार इस शब्द से प्रायः अतिरिक्त तथा उत्पीड़क उपकरों का बोध होता है।[51]

मिलिन्दपन्हो में 'बलि' नामक कर मे चार मुख्यमंत्रियों का मुक्त रखा गया है तथा इसे एक सकटकालीन कर बतलाया गया है।[52] इससे प्रतीत होता है कि मौर्योत्तर काल में इस शब्द के अर्थ में कुछ परिवर्तन हुए थे। रुद्रदामन (150 ईस्वी) के जूनागढ़ अभिलेख से 'बलि' नामक कर का उल्लेख मिलता है।[53] मगर इस अभिलेख से मिलिन्दपन्हों में व्यक्त मत की पुष्टि नहीं होती, जबकि ग्रन्थ का रचनाक्षेत्र तथा जूनागढ़, दोनों एक दूसरे के बिल्कुल समीप हैं। किसी अन्य स्त्रोग्रन्थ से भी 'बलि' का सकटकालीन कर के रुप में मान्यता नहीं मिलती। अतः हम कह सकते हैं कि मिलिन्दपन्हों में 'बलि' को संकटकालीन कर के रुप में मिथ्या निरुपित किया गया है।

अशोक के रुम्मिनदेई-स्तम्भलेख में वर्णित 'बलि' नामक शब्द की व्याख्या टॉमस ने एक धार्मिक कर के रुप में की है।[54] चार्ल्स ल्याल तथा के. एस. नीलकान्त शास्त्री ने भी इसे एक धार्मिक कर माना है।[55, 56] मैती के अनुसार चूँकि यह शब्द गुप्तकाल के भूमिदान पत्रो में 'चरु' या 'सत्त' शब्दों के साथ प्रयोग किया गया है जो यज्ञिक कृत्य थे अतः 'बलि' एक प्रकार का धार्मिक कर था।[57] अद्रदामन के अभिलेख में बलि का उल्लेख 'शुल्क' तथा 'भाग' जैसे राजवित्तीय शब्दों के साथ मिलता है अतः 'बलि' एक प्रकार का कर था। गुप्तकालीन अभिलेखों में 'चरु', 'सत्त' 'वैश्बदेव', तथा अंग्निहोत्र, जैसे चार

यज्ञीय अनुष्ठानों के साथ ही 'बलि' को पांचवॉं यज्ञीय अनुष्ठान बतलाया गया है। अतः इस अभिलेख के अनुसार बलि कर नहीं हो सकता है।

अधिकांश विधिक तथा साहित्यिक रचनाओं मे 'बलि' की चर्चा कर के रूप में हुई है। इन साहित्यो में तकनीकी अर्थ में 'भाग' पर ध्यान नहीं दिया गया है। विष्णु[58] तथा मनु[59] ने भूमिकर की दर के संबध मे 'बलि' का प्रयोग किया है। महाभारत के राजधर्म प्रकरण में भी यही बात मिलती है।[60] अश्वघोष ने भी भूमि कर के लिए बलि का प्रयाग किया है।[61] बृहस्पति जो संभवतः गुप्तकाल के हैं भूमिकर के लिए बलि का प्रयोग करते हैं।[62] महावंश जो कि एक गुप्तकालीन ग्रंथ हैं, में एक स्थान पर 'बलि' का उदग्रहण अत्यन्त अनिवार्य बतलाया गया है, जिससे निष्कर्ष निकलता है कि संभवतः यह मूल भूमिकर था।[63] अमरकोष (पॉंचवीं शताब्दी) में बलि शब्द कर के सामान्य अर्थ में शुल्क तथा कर के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। अतः उपरोक्त बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्र तथा साहित्य मे प्रयुक्त बलि तथा अभिलेखों में प्रयुक्त भाग एक ही है।

भू-राजस्व की मुख्य आय उपज का रिवाजी राज्यांश ही था, जिसे कभी-कभी 'भाग' कहा जाता था। भूमि पर लगाये जाने वाले विशेष प्रकार के कर के नाम के रुप में 'भाग' शब्द का प्रथम उल्लेख कौटिल्य रचित 'अर्थशास्त्र' में मिलता है।[64] 'राष्ट्र' शीर्षक के अन्तर्गत एक स्थान पर कर, बलि, आदि शब्दो के साथ 'भाग' शब्द का प्रयोग स्वतन्त्र रूप में हुआ है। उसी शीर्षक के अन्तर्गत दूसरी जगह बलि, कर, आदि के साथ 'षड्भाग' नामक शब्द का उल्लेख मिलता है।[65] अतः निष्कर्ष निकलता है कि 'भाग' शब्द का प्रयोग उपज में राजा के राज्यांश के रुप मे किया जाता था जो उपज का छठवॉं (षष्ठांश) भाग होता था।[66] अमरकोष के बारहवीं शताब्दी के टीकाकार क्षीरस्वामी भी भाग की व्याख्या करते हुए उपज मे राजा का षष्ठांश बतलाते हैं।

राजग्राह्य, षड्भागादि,[67]

मौर्यात्तर तथा गुप्तकाल में 'भाग' ही प्रधान भूमिकर था। उद्रदामन के पूनागढ़ अभिलेख में कहा गया है कि राजकोष 'बलि', 'शुल्क', तथा 'भाग' से भरा गया है, और सुदर्शन बॉंध का निर्माण 'कर',

'विष्टि' तथा 'प्रणय' द्वारा लोगों को उत्पीड़ित किये बिना हु आ है। चूँकि अन्तिम तीनों कर उत्पीड़क कहे गये है अतः भाग ही भूराजस्व की प्रधान मद था, जिसे उत्पीड़क नही कहा गया है। अतः भाग ही उपज मे राजा का सामान्य हिस्सा था। गुप्तकालीन अभिलेखो में ब्राह्मणों को भूमिदान का उल्लेख मिलता है। गुप्तकालीन अभिलेखों में ही प्रायः अन्य करों के साथ 'भाग भोग-कर' से दानग्रहीताओ को मुक्त रखने का भी उल्लेख मिलता है।[68] फ्लीट महोदय 'भाग भोग-कर' का समस्त पद मानते हैं और इसका अर्थ 'कर या भाग का उपभोग' मानते है।[69] लेकिन कहीं- कहीं यह शब्द उलटे क्रम में भी मिलता है, जैसे 'भोग भाग'।[70] यदि हम 'फ्लीट की ही तरह इस शब्द का पहले शब्द के समान अर्थ लगावें तो 'उपभोग का भाग' होगा। किन्तु वास्तविकता यह है कि 'भोग' और 'भाग' जैसे दो स्वतत्र शब्दों से बना 'भोग-भाग' एक समस्त पद पर है, इसीलिए यह दो भिन्न प्रकार के करों का संकेत करता है। अभिलेखों में 'भाग' शब्द का अभिप्राय सरकार ने उपज का राजकीय अंश बतलाया है, जो कि सत्य ही प्रतीत होता है।[71]

'कर' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र एवं विधि ग्रंथों मे बार-बार मिलता है। कर राजस्व का दूसरा प्रकार है। मनु के एक श्लोक मे 'कर' का अर्थ विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है।[72]

मेधातिथि- 'कर' का अर्थ द्रव्य का दान (द्रव्यपानम्) है।

सर्वज्ञनारायण- 'कर' भूमि पर एक निश्चित स्वर्ण भुगतान (भूमिनियतम् देयम् हिरण्यम्) है।

रामचन्द्र - 'कर' का अर्थ घास, काष्ठ आदि के रुप में अंशदान (गुल्मादकीयम्) है।

कुल्लूक - 'कर' का अर्थ पुरवासियों तथा ग्रामीणों द्वारा मासिक या भाद्रपद तथा पौष में अंशदान (ग्रामपुर-वासिभ्यः प्रमासम् वा भाद्रपौष नियमेन ग्राह्यम) है।

राघवानंद - 'कर' ग्रामवासियों द्वारा दिया जाने वाला मासिक भुगतान है (ग्रामवासिभ्यः प्रतिमासिकम्)। कुल्लूक तथा राघवानंद की व्याख्यायें कौटिल्य पर भट्टस्वामी की टीका 'कर' शब्द की उसकी व्याख्या से बहुत कम मिलती जुलती है।[73] भट्टस्वामी के अनुसार कर 'भाद्रपद' बसन्त आदि मासो में चुकाया जाने वाला वार्षिक कर है-

'करः प्रतिवर्षदेयः भाद्रपादिक वसन्तिकाद्यूपादानम्[74]

क्षीरस्वामी के अनुसार 'कर' सभी 'चल अचल' सम्पत्ति पर एक भार (शुल्क) है-

'प्रत्येकम् स्थावर जैंगमादिदेयः करः'।[75]

रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेखानुसार राजकोष 'बलि', 'शुल्क', तथा 'भाग' (बलि शुल्क भागै) से भरा गया है और सुदर्शन बाँध का निर्माण 'कर', 'विष्टि' तथा 'प्रणय'द्वारा लोगों का उत्पीड़न किये बिना ही हुआ है।[76] अतः एक जगह 'बलि' तथा दूसरी जगह 'कर' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि दोनों सामान्य कर के लिए नहीं प्रयुक्त हो सकते। अतः निश्चित रुप से 'कर' एक उत्पीड़क शुल्क था तथा यह सामान्य भूमि कर (मालगुजारी) से भिन्न तथा इसके अतिरिक्त था। अतः 'कर' ग्रामीणों से लगभग सर्वत्र उद्गृहीत आवधिक कर था तथा उसकी वसूली भी राजा के सामान्य अंश के अतिरिक्त ही होती प्रतीत होती है।

पुरालेखीय स्तोतों के अनुसार 'कर' एक सामान्य कर था। अश्वघोष इसे कर के विस्तृत अर्थ में लेते हैं।[77] समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी 'कर' का उल्लेख सामान्य कर के रुप में हुआ है।[78] समुद्रगुप्त के गया-ताम्रफलक (अप्रमाणिक) के अनुसार करद (कर देने वाले) कृषकों तथा शिल्पियो को दान में दिये गये एक निश्चित ग्राम में नहीं बसने देना चाहिए।[79] अतः कर सभी प्रकार के करो के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसमे कृषकों तथा शिल्पियों द्वारा दिया जाने वाला कर भी शामिल हैं। इसी प्रकार भूमिदानपत्रों में सभी प्रकार के करों से मुक्त व्यक्ति 'अकरदायी' का भी उल्लेख मिलता है।[80] कुछ प्रलेखों में 'सर्वकरपरिहरः'[81], 'सर्वकर समेतः'[82] आदि का उललेख भी मिलता है। जिसका साधारण अर्थ यह हो सकता है कि कर के अन्तर्गत सभी प्रकार के कार आ जाते हैं। अभिलेखों में इसी प्रकार के दूसरे शब्द हैं- 'सर्वकरदानसमेतः'[83], 'सर्वकरविसर्ज्जितः',[84] 'सर्वकरत्यागः',[85]। एक अभिलेख में 'कर'भूराजस्व ('भाग') तथा 'भोग' को छोड़कर सभी प्रकार के अभिदायों के अर्थ में आया है।[86] एक अन्य अभिलेखानुसार 'कर' में 'शुल्क', 'भाग', 'भोग' तथा 'हिरण्य' शामिल नहीं हैं।[87] स्मृतियों मे 'कर' का उल्लेख व्यापारियों के लाभ पर लगे कर के रुप में भी किया गया है।[88] इस प्रकार से विभिन्न सन्दर्भो से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'कर' का उपयोग सामान्य तथा विशेष दोनों अर्थों में हुआ है। यह

एक प्रकार का भूराजस्व था जिसका सही स्वरुप तय नहीं किया जा सकता है।

अर्थशास्त्र के अनुसार भूराजस्व निश्चित किया जाता था। 5 या 10 गाँवो का अधिकारी 'गोप' कहलाता था। वह सारे हिसाब किताब रखने के अतिरिक्त यह भी लिखता था कि किन मकानों मे रहने वालो से कर लेना है तथा किन लोगों से नहीं। वह यह भी लिखता था कि कितना धन नकद लेना है, कितना बेगार करानी है तथा कितना धन जुर्माने के रुप में लेना है।[89] वह गाँवों में निरीक्षक भेजता था जो कर लेने एवम् छूट से सम्बन्धित सिफारिश करते थे।[90] प्रत्येक व्यक्ति पर अलग-अलग कर लिए जाने के अतिरिक्त कुछ गाँवों पर सामूहिक कर लगाने के भी उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार के कर को कौटिल्य ने 'पिण्डकर' कहा है।[91] मौर्योत्तर तथा गुप्त काल में इस तरह के कर का उल्लेख नहीं मिलता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि उस समय सामूहिक कर लगाने की प्रथा नहीं।

'हिरण्य'भी भूराजस्व के रुप में अधिकांश पूर्व भा रतीय स्त्रोतों मे पाया जाता है। अर्थशास्त्र के अनुसार 'हिरण्य' राजा के राजस्व की एक शाखा थी।[92] कौटिल्य के अनुसार राजस्व वसूलने वाला अधिकारी (समाहर्त्ता) एक बही (निबन्ध-पुस्तक) में अन्य बातों के अतिरिक्त अन्न, पालतू मवेशी, हिरण्य, विष्टि आदि शीर्षको के अन्तर्गत ग्रामीणों द्वारा देय अलग-अलग या सामूहिक कर को नोट करता था।[93] मगर अर्थशास्त्र के आयशरीरम् (आय स्त्रोतों) की नियमित सूची में 'हिरण्य' नहीं मिलता है अतः हम कह सकते हैं कि मौर्यकाल में यह एक नियमित कर न होकर एक अनियमित उद्ग्रहण (लेवी) था।[94] अर्थशास्त्र मे 'हिरण्य' की वसूली के लिए एक निश्चित दर निर्धारित थी। 'मनु' को अपना राजा चुन लेने के बाद सभी लोग राजा के अंश के रुप में उपज का छठवाँ, व्यापारिक वस्तुओं का दसवां भाग तथा 'हिरण्य' देते थे। ऐसे ही एक सन्दर्भ में महाभारत में राजा के अंश के लिए 'दशमांश' का उल्लेख मिलता है।[95] महाभाष्य के अनुसार 'हिरण्य' राजा को बलवान बनाता है, मगर इस ग्रंथ में हिरण्य की निर्धारित दर का उल्लेख नहीं है न ही हिरण्य को विशेष भूमिकर के रुप में दर्शाया गया है। मौर्योत्तरकाल के विधिग्रन्थों में 'हिरण्य' राजा की नियमित राजस्व की आय के रुप में मिलता है। विष्णु[96] तथा मनु[97] ने हिरण्य की दर के रुप में पचासवॉ हिस्सा निर्धारित किया है। गुप्तकाल के बाद 'वाकाटक शासनपत्रों को छोड़कर' के भूमिदानपत्रों मे हिरण्य का उल्लेख ऐसी राजस्व सूची मे मिलता है, जिनसे दानग्रहीता मुक्त

थे। मगर इन दानपत्रो मे हिरण्य की दर के विषय में कोई जानकारी नही मिलती। अंततः हम कह सकते है कि 'हिरण्य' राजकीय आय का स्थायी तथा महत्वपूर्ण मद था।

'हिरण्य' शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रुप से की है। अर्थशास्त्र मे हिरण्य से अभिप्राय स्वर्ण है।[98] विधि ग्रन्थों के अनुसार हिरण्य कभी-कभी स्वर्ण तथा कभी-कभी संचित धन या वार्षिक आय पर लगाया गया कर है।[99] एक व्याख्या के अनुसार 'हिरण्य' से स्वर्ण और संभवतः अन्य खानों पर राज्य के अधिकार का संकेत मिलता है। मगर यदि 'हिरण्य' का अर्थ स्वर्ण से लिया जाए तो यह विश्वास नही होता कि कृषक करों का भुगतान स्वर्ण के रुप में करते होंगे। अतः उपरोक्त व्याख्यायें सच प्रतीत नहीं होती। स्मृतिग्रन्थां में 'हिरण्य' प्रायः पशु के साथ प्रयोग किया गया है।[100] इसी ग्रथ के अनुसार हिरण्य राजस्व के एक मान्य स्तोत के रुप में उसी प्रकार है जिस प्रकार फूल, वृक्ष, कन्द, फूल, पत्ते तथा घास आदि हैं। यू. एन. घोषाल के अनुसार 'हिरण्य' ग्राम के औद्योगिक तथा कृषिक उत्पादन से सम्बन्धित कर समूह का एक कर है।[101] विभिन्न भूमिदानपत्रो में 'हिरण्य' प्रायः 'भाग भोगकर'[102] के साथ मिलता है जिसका अर्थ, जैसा कि दूसरी जगह दिखाया गया है[103], ग्रामीणों द्वारा राजा को दिया जाने वाला सामान्य उपज का अंश तथा विविध अभिदाय है। कुछ जगहों पर 'हिरण्य' शब्द का प्रयोग 'धान्य' के साथ किया ग या है जिसका अर्थ है उपज मे राजा का अंश।[104] अतः उपरोक्त विवरणों के आधार पर हम कह सकते है कि 'हिरण्य' कृषक सामग्रियों पर लगने वाला कर है।

मध्यकाल मे टोडरमल के सुधार के पूर्व तक, भू-राजस्व का भुगतान जिन्स (वस्तु रुप) में किया जाता था। किन्तु कुछ खास प्रकार की फसलो (जब्ती फसलों) का कर निर्धारण इस आधार पर नकदी होता था कि उनको विभिन्न भागो में विभक्त नहीं किया जा सकता है।[105] अतः घोषाल का यह कथन सही प्रतीत हाता है कि 'हिरण्य' इसी प्रकार का एक कर था, अतः हिरण्य विशेष प्रकार की फसलों पर लगाया जाने वाला नगद कर था जो साधारण फसलों पर लगाये जाने वाले जिसी कर से निश्चित रुप से भिन्न था।[106] सरकार भी इसी मत से सहमत पाये जाते हैं।[107] हमे कुछ फसलों पर नकद कर लगाने क उदाहरण प्राप्त होते हैं। 592 ईश्वी के एक अभिलेखानुसार एक निश्चित क्षेत्र

व्यक्तियो द्वारा तालाबों के दान का उल्लेख मिलता है।[123] तुसम शिलालेखानुसार आचार्य सोमत्रात ने विष्णु भगवान के नाम पर दो जलाशयो का निर्माण कराया था।[124] व्यक्तिगत प्रयत्नों के अतिरिक्त सहकारी प्रयत्नो के भी साक्ष्य मिलते हैं। मनु[125] के व्यादेश से तटबन्ध निर्माण, सिंचाई निर्माण आदि के लिए ग्रामीणों का सहकारी प्रयत्न ध्वनित होता है।[126] कुछ शक अभिलेखों में 'सहयण' द्वारा कुँए तथा तालाब के दान का उल्लेख मिलता है।[127] कुछ अभिलेखों में सहयण की जगह 'सहयर' शब्द मिलता है।[128] सहयण का अर्थ स्तेन कोनों ने साहचर्य या भ्रातृत्व बतलाया है।[129] सहयण का वास्तविक अर्थ अनिश्चित है। वृहस्पति गुप्तकाल के अनुसार शिल्पसंघ (श्रेणियाँ) सिंचाई-बाँधों की देखभाल करती थीं।[130]

सिंचाई के लिए व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रयासों के अतिरिक्त राजकीय पहल के भी कुछ उद्धरण मिलते हैं खाल के हाथी गुम्फा अभिलेख[131], रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख[132] के तथा स्कन्दगुप्त के अभिलेखों[133] में सिंचाई के लिए राजकीय प्रयासों का विवरण मिलता है। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि राज्य उन्हीं बड़ी परियोजनाओं को पूर्ण कराने में हाथ लगाता था जो व्यक्तिगत एवं सामूहिक सीमा से कहीं अधिक हाती थी। इसीलिए चूँकि सिंचाई कार्य के लिए राज्य सीमित प्रयास करता था अतः 'उदकभाग' का औचित्य मोर्योत्तर तथा गुप्तकाल में नहीं बनता है।

कुछ नये करों जैसे कि उपरिकर तथा उद्रंग का उल्लेख पहली बार गुप्तकालीन अभिलेखों में मिलता है।[134] फ्लीट के अनुसार 'उपरिकर' शब्द 'उपरि' या 'उप्रि' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है वैसे किसानों से वसूला गया कर जिनका कृषि भूमि पर अधिकार नहीं था।[135] अभिलेखों में उपरिकर शब्द सदैव 'उद्रंग' शब्द के साथ ही प्रयुक्त हुआ है, इसीलिए घोषाल के अनुसार उपरिकर तथा उद्रंग शब्द परस्पर विरोधात्मक हैं उन्होंने 'उद्रंग' को स्थायी किसान तथा उपरिकर को अस्थायी किसानों से जोड़ा है। अतः 'उद्रंग' स्थायी किसानों पर लगने वाला कर तथा 'उपरिकर' अस्थायी किसानों पर लगने वाला कर है।[136] घोषाल ने उपरिकर को मराठी शब्द 'उप्रि' से जोड़ा है जिसका अर्थ होता है वह कृषक जो मूलरुप से गाँव का नहीं होता तथा एक निश्चित अवधि तक पट्टे पर भूमि को रखता है। मगर मराठी भाषा का विकास इन अभिलेखों के हजारों वर्ष बाद हुआ था तथा ऐसे कमजोर प्रमाणों से कोई निष्कर्ष

निकालना अनुचित होगा।[137] फ्लीट की व्याख्या के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। चूँकि 'उपरिकर' तथा 'उद्रंग' साथ- साथ प्रयुक्त हुए है अतः यदि एक का अर्थ अस्थायी कृषकों का कर तथा दूसर को स्थायी किसानों का कर समझा जाये तो यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती कि एक ही समय एक भूमि पर अस्थायी तथा स्थायी दोनो काश्तकार काम करते थे। ग्रामदान के मामल में तो दोनों तरह के काश्तकारों की मौजूदगी हो सकती है[138], मगर भूमिदान के मामले में ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा कोई साक्ष्य भी नहीं मिलता कि राज्य स्थायी तथा अस्थायी काश्तकारों पर कोई अतिरिक्त कर लगाता था। ऐसा भी कोई कारण नहीं दिखता जिससे राज्य स्थायी तथा अस्थायी काश्तकारों मे विभेद करता।[139] बर्नेट के अनुसार 'उपरिकर' तमिल शब्द 'मेलवरम'[140] अर्थात उपज में राज्य का अंश जैसी कोई चीज है। अल्टेकर के अनुसार उपरिकर, तथा 'भोग' एक ही चीज है जो खाद्य सामग्री के रुप में अभिदाय है।[141] महाराजा जयसिंह के करितलाई ताम्रफलक अभिलेख[142] (493-494 ईस्वी) में 'उपरिकर' तथा 'उद्रंग' शब्द के साथ 'भाग भोगकर' भी मिलता है अतः 'उपरिकर' न तो 'भोग' और न ही 'भाग' से जोड़ने का कोई औचित्य है। दिनेशचन्द्र सरकार ने 'उपरिकर' का अर्थ अतिरिक्त टैक्स किया है।[143] सचीन्द्र कुमार मैती भी 'उपरिकर' का अर्थ अतिरिक्त टैक्स मानते हैं।[144] अतः निष्कर्ष निकलता है कि उपरोक्त व्याख्यायें निर्णायक नहीं है।

उद्रंग शब्द की भी व्याख्या करना उतना ही कठिन है, जितना की 'उपरिकर' की। 'उद्रंग' शब्द भी केवल भूमिदानपत्रों में ही मिलता है न कि साहित्यों में। बूलर के अनुसार 'उद्रंग' का पर्याय 'उद्धार' तथा 'उद्ग्रन्थ' है।[145] फ्लीट के अनुसार 'उद्रंग' का अर्थ राजा के लिए एकत्रित उपज का अंश है कभी-कभी 'उद्रंग' तथा 'भाग' एक ही दानपत्र में साथ साथ मिलते हैं। भाग एक नियमित भूमि कर हैं।[146] अतः 'उद्रंग' का भी अर्थ राजा का सामान्य अन्नांश हो सकता है। घोषाल ने 'उद्रंग' का स्थायी काश्तकारों पर लगाया जाने वाला कर माना है।[147] इस मत का समर्थन सरकार ने भी किया है।[148] मगर ये व्याख्यायें सही नहीं प्रतीत होती हैं। मैती द्वारा दो वैकल्पिक व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं। मैती की प्रथ व्याख्यानुसार 'उद्रंग' की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'उदक' से हो सकती है।[149] अतः इसका स्वरुप सिंचाई कर जैसा हो सकता है क्योंकि उदक का अर्थ है जल। मगर गुप्तकाल में सिंचाई कर का कोई

स्वतन्त्र साक्ष्य नहीं मिलता है। मैती की दूसरी व्याख्यानुसार[150] 'उद्रंग' 'द्रंग' जैसी कोई चीज है जो राजतरगिणी[151] के अनुसार निगरानी चौकी है तथा यह शब्द पुलिस कर के लिए उपयोग में लाया गया होगा। इस धारणा का समर्थन पुष्पा नियोगी ने भी किया है।[152] 'उद्रंग' के स्वरुप की सही व्याख्या के लिए कोई निश्चित प्रमाण-अभी नहीं मिला है। अतः हम कह सकते हैं कि 'उपरिकर' की तरह ही 'उद्रंग' भी सामान्य अन्नांश के अतिरिक्त कोई उदग्रहण (लेबी) रहा होगा।

गुप्तकालीन दानपत्रों मे कहीं-कहीं दूसरे शब्द भी मिलते हैं, जैसे, हालिकाकर,[153] दित्य[154], मेय[155] या तुल्यमेय[156] तथा धान्य[157] आदि। इनमें से किसी का भी उल्लेख समकालीन पुरालेखों को छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं मिलता है। 'हालिकाकर' का उल्लेख ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दी के अन्तिम तथा छठीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में वघेलखंड क्षेत्र के शासक उच्छकल्प सर्वनाथ के दो शासनपत्रों में मिलता है।[158] घोषाल के अनुसार 'हालिकाकर' हल पर लगा हुआ कर हो सकता है।[159] मैती के अनुसार 'हालिकाकर' एक हल द्वारा जोती जा सकने वाली जमीन पर लगा अतिरिक्त कर होगा।[160] यद्यपि भूमि की माप के संबंध में 'हलि' विशेष कर योग्य कोई वस्तु प्रतीत होती है मगर ऐसे साक्ष्य मौजूद हैं जिससे ज्ञात होता है कि परवर्तीकाल में रकबे के अनुसार भूमि पर कर लगाया जाता था।[161] मुगलकाल मे हलों पर भी कर लगाने के उदाहरण मिलते हैं।[162] फिर भी हालिकाकर आज कर अस्पष्ट है।

त्रैकूटक नरेश व्याघ्रसेन के सूरत ताम्रफलक के अनुसार--'सर्वदित्यविष्टि-परिहारन' का शाब्दिक अर्थ है सभी प्रकार के बकायों तथा बेगार से मुक्ति। 'दित्य' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'वह जो देने के लिए है।'[163] अतः 'दित्य' बेगार को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के करो के लिए प्रयुक्त होता रहा होगा। अतः 'दित्य' शब्द का अर्थ व्यापक है।

गुप्तकाल के कुछ पूर्वी तथा मध्य भारतीय पुरालेखों में 'मेय' शब्द के बाद प्रायः 'हिरण्य' शब्द आया है। हर्ष के मधुवन ताम्रफलक अभिलेख[164] में मेय शब्द का प्रयोग 'यथा समुचित तुल्य मेय भाग भोगकर' के रूप में हुआ है। इस सम्पूर्ण पंक्ति का अर्थ राजा का सामान्य जिंसी राजस्व हो सकता है जिसे तौला या मापा जा सकता हो। 'तुत्प्पमेय' को 'भाग-भोग कर' का विशेषण कहा जा सकता है।

अतः हम कह सकते है कि 'मेय' 'भाग' के रूप में ज्ञात सामान्य भूमि कर का प्रतिस्थानी था।

गुप्तकालीन अधिकांश भूमिदान पत्रों में 'भाग भोग कर' के स्थान पर 'धान्य' भोगकर का उपयोग किया गया है। अतः प्रतीत होता है कि 'धान्य' भी सामान्य भूमिकर का सूचक है नरेन्द्र के कुरूद ताम्रपट्ट मे 'धान्य' का उल्लेख 'भोग' तथा 'भाग' के साथ हुआ है।[165] धरसेन द्वितीय के एक दानपत्र मे 'सधान्य भागभोग हिरण्यादेयः' लिखा गया है।[166] इससे 'भाग भोग' तथा 'धान्य' के बीच का अन्तर पता चलता है। घोषाल के अनुसार 'धान्य' जिस में निश्चित अभिदाय था जबकि 'भाग' उपज का एक अंश।[167] अभिलेखो मे 'धान्य', 'मेय' तथा 'दित्य'शब्द एक साथ कहीं नहीं मिलते हैं जिसके आधार पर हम कह सकते है कि तीनों समानार्थी शब्द हैं। 'दित्य' का प्रयोग व्यापक रूप में हुआ होगा।

धरसेन द्वितीय के मालिय ताम्रलेख में 'वात भूत' शब्द मिलता हे जो संभवतः वायु तथा पानी के देवताओं की पूजा के लिए एकत्र किया जाने वाला कर रहा होगा।[168]

अभिलेखों के अनुसार चाट व भाट वे पुलिस अधिकारी थे जो चौकीदारी के साथ- साथ निर्दयता पूर्वक राजस्व भी वसूलने का कार्य किया करते थे।[169]

वाकाटक राजाओं के अभिलेखों में 'क्लृप्त'तथा 'उपक्लृप्त' शब्द भी मिलते है।[170] ये शब्द निधि या उपनिधि शब्दों के साथ प्रयोग किये गये हैं जिसका अर्थ होता है जखीरा। इससे अनुमान होता है कि ये शब्द जखीरों में राजा के अंश के लिए प्रयोग किये गये थे।

ऊपर वर्णित भूमि करों के आधार पर हम कह सकते है अर्थशास्त्र में प्रयुक्त भूमिकर सूचक शब्द गुप्तकाल तक प्रयोग मे रहे। अर्थशास्त्र के 'भाग ''कर'हिरण्य जैसे कर केवल स्मृतियों में ही नहीं वरन परवर्तीकाल के भूमि दान पत्रो में भी पाये जाते हैं। पिंडकर तथा उदक भाग जैसे शब्दों का प्रयोग परवर्ती स्त्रोतो में नही मिलता है। भू राजस्व से सम्बन्धित कुछ नये शब्द जैसे उपरिकर उद्रंग तथा हालिका कर पहले पहल गुप्तकाल में ही मिलते हैं। इसके अतिरिक्त कई कर प्रचलन में रहे होगे क्यों कि करो की सूची के अन्त में आदि तथा इत्यादि शब्द मिलते हैं।

किसी उत्सव के समय प्रजा द्वारा राजा को दिये गये भेंट को कौटिल्य ने उत्संग कहा है।[171] जातकों में भी उत्संग का उल्लेख मिलता है। जातक के अनुसार राजकुमार के जन्म पर प्रजा जन में से

प्रत्येक उसके दूध के निमित्त एक कार्षापण लाया।[172] राज्याभिषेक के समय भी प्रजा राजा के लिए भेंट लाती थी।[173] इन भेंटो से राजा की बहुत आय होती थी। राजस्व के लिए कौटिल्य ने राष्ट्र शब्द प्रयुक्त किया है। राष्ट्र के अन्तर्गत 'सीता''वलि''भाग ''कर''पिण्डकर'तथा 'उत्संग'आता था। सेना जिस प्रदेश से गुजरती थी उस प्रदेश की प्रजा तेल,चावल आदि देती थी। इसे सेना भक्त कहा जाता था।[174] कुछ अन्य कर निम्नलिखित हैं।-

1. औपयनिक-उपहार।
2. पार्श्व-अधिक लाभ पर अतिरिक्त कर।
3. कौष्ठेयक-पानी भूमि पर कर।
4. परहीनक-पशुओ द्वारा हानि के लिए कर।
5. पशुकर - मेगस्थनीज के अनुसार पशु पालक राजाओ को अपने पशुओं पर कर देते थे।[175]

गृह पर लिए जाने वाले कर को 'कूटक'कहा जाता था। किन्तु यह कर कृषि के लिए प्रयोग किए जाने वाले हल पर लगने वाला कर था क्योकि कूट का अर्थ था खेत जोतना और कूटक का अर्थ था खेत जोतने का हल।[176] अनेक अभिलेखों मे कूटक कर का उल्लेख हुआ है जिससे स्पष्ट होता है कि यह कर व्यवहार रुप में प्रचलित था।[177] प्राचीन काल में विष्टि नामक कर का भी उल्लेख प्राप्त होता है जो संभवतः शिल्पी और कारीगरों द्वारा राज्य के प्रति 'बेगार'के रुप में सेवा करना था।[178] आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र में यह लिखा है कि इस प्रकार की सेवाओं का उपयोग राज्य द्वारा राजकीय कारखानो के लिए किया जाना था।[179] मनु भी इस तथ्य का उल्लेख करते हुए यह लिखते हैं कि शूद्र, शिल्पी और कारीगर अपना कर अपनी सेवाओं के रुप में राज्य को दे सकते हैं।[180] परन्तु यह कर अत्यन्त दु:खदायी कर रहा होगा। अर्थशास्त्र इस का वर्णन अतिरिक्त करो की सूची में किया गया है। कौटिल्य के अनुसार ,विष्टि के अर्न्तगत श्रम से राज्य के फार्मो पर कृषि कार्य करवाया जा सकता था।[181] इस प्रकार के बेगार के विवरण हमें महाभारत में भी मिलते हैं,जिसके अनुसार कारीगरों को केवल भोजन देकर उनसे बेगार कराया जा सकता था।[182] इस प्रकार की व्यवस्था से निश्चय ही आम

प्रजा को अत्यन्त कष्ट का सामना करना पड़ता था।

महाभारत के शान्ति पर्व में जुर्माने तथा जब्ती कर का भी उल्लेख है जिसका अर्थ जुर्माने और जब्ती द्वारा राज्य की आय में बृद्धि करना नही अपितु अपराधियो को दण्डित करना होता था।[183] करो को वसूलने में कभी-कभी राज्य कृषको को भू-राजस्व से छूट भी देती थी। जैसे जब दैवी आपदा या अन्य कारणों से फसल खराब हो जाती थी। तो फसल का राजस्व नही लिया जाता था।[184] जब कोई कृषक खेत में सुधार करके अधिक अन्न का उत्पादन करता था तो उसे भू-राजस्व में छूट दी जाती थी। धार्मिक स्थलों के निवासियों को भी भू-राजस्व से छूट दी जाती थी।[185] जैसे लुम्बिनीवन के निवासियों को गौतम बुद्ध का जन्म स्थान होने के कारण सम्राट अशोक ने लोगों का भू-राजस्व कम कर दिया था।[186] परन्तु संकटकालीन स्थित में राजा 1/6 भाग के स्थान पर 1/4 भाग तक कर के रुप में ले सकता था।[187]

ब्राम्हणों को भी भू-राजस्व से छूट प्रदान की गयी थी। वसिष्ठ धर्म सूत्र के अनुसार राजा को ब्राम्हणों से कर नही लेना चाहिए।[188] इस तथ्य की पुष्टि मनु भी करते है।[189] क्योकि ब्राम्हण लोग राज्य की सेवा करते हैं और लोगों को पूजा-पाठ कराते है।

आपातकालीन कर - सामान्य काल के राजस्व के अतिरिक्त राजा या राज्य की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी प्रणय नामक कर का उल्लेख मिलता है।[190] कौटिल्य के अनुसार खाली खजाने की पूर्ति के लिए प्रणय वसूल किया जाता था, जिसे एक बार से अधिक नही वसूला जा सकता था।[191] पतन्जलि के अनुसार मौर्यो ने धन के लिए सम्प्रदायों (कल्ट्स)की स्थापना की।[192] प्रणय एक तरह का राज्य की सुख सुविधा हेतु अत्याचार था।

मौर्योत्तर तथा गुप्त कालों में प्रणय वसूलने की प्रथा खत्म नही हुई थी। जूनागढ़ शिलालेख मे रुद्रदामन प्रणय तथा अन्य करो से जनता को उत्पीडित किये बिना ही सुदर्शन बांध के निर्मित करने का गर्व व्यक्त करता है।[193] अतः स्पष्ट है कि प्रणय जो कि एक आपातकालीन कर था अवाछनीय माना जाता था। तथा जहां तक संभव हो इसको टाला जाता था । विन्ध्यशक्ति द्वितीय के बसिम फलक (चौथी शदी) से भी,प्रणय मांगने की प्रथा प्रमाणित होती है।[194] मौर्योतर तथा गुप्तकाल में प्रणय अपेक्षाकृत कम

प्रचलित रहा । इस काल मे आपात स्थितियों का मुकाबला करने के लिए कुछ मुद्रा स्फीतिक विषयक कदम उठाये गये थे। ऐसा अनुमान मुद्रामाप से मिलता है। स्वर्ण-मुद्राएं उत्तरोत्तर खोटी होती गयी तथा ताँबें के सिक्कों का वजन तेजी से घटने लगा।[195] स्मिथ के अनुसार स्कन्द गुप्त की स्वर्ण मुद्राओं का वजन 108 से घटकर 73 ग्रेन हो गया था।[196] शान्तिपर्व में भीष्म ने कहा है , कि जब राजकोष रिक्त हो जाये तथा सेना समाप्त हो जाये तो राजा को तपस्वियो तथा ब्राम्हणो को छोड़कर सभी का धन जब्त कर लेना चाहिए।[197] शान्ति पर्व के एक और उद्धरण के अनुसार राजा को डाकुओं तथा धार्मिक कार्य न करने वालो का धन जब्त कर लेना चाहिए।[198]

आपातकालीन स्थिति से निपटने के लिए 'आदेय'तथा 'प्रत्यादेय'नामक उधारो का भी उल्लेख मिलता है। 'आदेय' वह धन है जो आसानी से अर्जित तथा सुरक्षित किया जा सकता है तथा जिसके लौटाए जाने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्यादेय वह धन है,जो मुश्किल से प्राप्त होता है तथा जिसे लौटाना पड़ता था। आदेय तथा प्रत्यादेय अत्याचारी नहीं थे। कौटिल्य के अनुसार यदि आवश्यकता हो तो राजा प्रत्यादेय नामक ऋण ले सकता था।

शान्तिपर्व के एक उद्धरण में राजा कहता है:- "इस विपत्ति तथा भयंकर खतरे का मुकाबला करने के लिए मैं तुम्हारा धन चाहता हूं, ताकि तुम्हारी सुरक्षा के लिए संगठित प्रयास किये जा सके। खतरा टल जान पर मै तुम्हारा वह धन लौटा दूँगा।"[199] एक बौद्ध ग्रंथ अवदानशतक में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। कौशल नरेश प्रसेनजित (मगध नरेश के साथ युद्ध) की सहायता के लिए एक सौदागर ने स्वर्ण मुद्राओं का ऋण दिया था।[200]

मनु के अनुसार कोई राजा आपातकाल में बिना किसी पाप के फसल का चतुर्थांश भी ले सकता हैं।[201] अतः वित्तीय संकट के दौरान सामान्यतः षष्ठांश के बदले चतुर्थांश लेने का प्रावधान था। मनु के ही अनुसार क्षत्रिय जो अपने हथियार से वैश्यों की रक्षा करते हैं। अन्न का आठवां हिस्सा कर तथा बीसवाँ हिस्सा शुल्क जिसकी रकम कम से कम एक 'कषार्पण' होनी चाहिए, वसूल कर सकते है।[202] मनु शूद्र, शिल्पी तथा कारीगर के कर के विषय में कहते हैं कि वे राजा का कार्य करके अपने पावने चुका सकते हैं।[203]

धान्यष्टेमं विशांशुल्कं विशं कार्षापणावरम्।

कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा।।

बृहस्पति मनु की अपेक्षा अधिक उदार थे। बृहस्पति के अनुसार आपातकाल में भी राजा केवल षष्ठांश भाग का हकदार है। यह दर भूमि कर (मालगुजारी) की सामान्य दर ही थी। बृहस्पति विक्रेय वस्तुओ का बीसवॉं और नकद तथा स्वर्ण के लिए सौवॉं अंश निर्धारित करते हैं।[204] मनु ने सामान्यकाल के लिए बीसवें अंश की दर ही निर्धारित की हैं, जबकि बृहस्पति द्वारा उल्लिखित नकद तथा सोने की सौवें हिस्से की शुल्क दर मनु के पचासवे हिस्से के दर से कम हैं।[205, 206]

अतः अर्थशास्त्र तथा शान्तिपर्व के समान स्मृतियों में आपातकालीन वित्त समस्या के प्रति मनोवृत्त उत्पीड़क नही हैं।

राजभूमि तथा राजस्व

निजी जमीनों से प्राप्त राजस्व के अतिरिक्त राजा की अपनी भी भू सम्पत्ति होती थी। अर्थशास्त्र में सीताध्यक्ष नामक ऐसे कृषि अधिकारी का उल्लेखं मिलता हैं जिसके निम्न कार्य थे-राजा की भूमि उपजान में प्रशिक्षित सहायकों, दासों मजदूरों तथा कैदियों को लगाना, कृषि के लिए आवश्यक यन्त्र तथा साधंन के साथ पशुओ की आपूर्ति करना आदि।[207] कौटिल्य के अनुसार जो खेत बिना बोय छोड़ दिया ('वापातिरिक्त')[208] जाता था। वह उन लोगों द्वारा कृषि योग्य बनाया जाता था। जो खेत को बटाई (अर्ध सीतिक) पर जोतकर जीवन यापन करते थे। तथा फसल का 1/4 या 1/5 हिस्सा मजदूरी के रूप में पाते थे। घोषाल के अनुसार 'सीता' नामक राजस्व शब्द 'भाग' के बदले, सम्पूर्ण फसल के लिए प्रयुक्त हुआ हैं।[209]

विष्णु के अनुसार 'आर्धिक' द्वारा दिया भोजन खाया जा सकता हैं।[210] नन्दपंडित के अनुसार आधिक का तात्पर्य वह है जो अपने खेत की फसल का आधा हिस्सा राजा को दे दे।[211] मनु ने भी आधिक का प्रयोग किया हैं।[212] याज्ञवल्क्य ने अर्धसीरिन् शब्द का प्रयोग किया हैं, जो आर्धिक के ही

सामानार्थी है।[213] मनु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार बटाईदार किसी व्यक्ति से जमीन बटाई पर लेते थे जबकि अर्थशास्त्र मे राजा से लेते थे।[214] तीसरी शताब्दी के पल्लव भूमि दान पत्र के अनुसार ब्राह्मणों की दान की जमीन पर भी चार बटाईदार लगे रहते थे।[215] इससे सिद्ध होता है कि दान के पूर्व राजा बटाईदारों से कृषि कार्य कराता था।

नासिक क्षेत्र के गौतमीपुत्र शातकर्णी ने दान में दिये जाने वाले खेत को 'अपना खेत' (अम्ह खेत) कह कर दान दिया था।[216] 'अपने खेत' (राज्यकम्खेत् अम्हसतकम्) से एक सौ 'निवर्तन' भूमि दान देने का भी उदाहरण मिलता है।[217] एक पल्लव अभिलेख द्वारा एक भूमि दान का उल्लेख मिलता हैं, जो राजा के आठ सौ 'पाट्टिक' के अपने खेत का हिंस्सा था।[218] गुप्तकाल के ध्रुवसेन प्रथम के एक भूमिदान पत्र (525 ईस्वी) मे 'सीता' भूमि से एक सौ 'पादार्वत' दान करने का उल्लेख हैं।[219] सीता शब्द को उस राजभूमि से जोड़ा जा सकता हैं। जिसकी देखभाल अर्थशास्त्र का 'सीताध्यक्ष' करता था। अतः स्पष्ट है कि ये खेत राजा के आदमियों द्वारा जोते जाते थे तथा राजस्व के स्त्रोत थे।

बंगाल के ग्यारह शासन पत्रों से भूमि बिक्री का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार आठ शासन पत्रो मे भूमि बिक्री का कारण राज्य द्वारा धार्मिक कार्य है।[220] अतः उपरोक्त सानयों के आधार पर हम कह सकते है कि राजा द्वारा अधिकृत उपभुक्त तथा कृषि भूमि का प्रचलन रहा तथा भूमिदान पत्रों की संख्या में हुई उत्तरोन्तर वृद्धि राज्य की आय में हुई क्षति को प्रदर्शित करती है।

वन भीं राजकीय आय का एक महम्वपूर्ण स्त्रोत था। अर्थशास्त्र के अनुसार वन 'आयशरीर' (आमदनी रुपी शरीर) का एक अंग है।[221] कौटिल्य ने वनों को धन का स्त्रोत बतलाया है तथा इस श्रेणी में उत्पादनकारी वन, हस्ति वन तथ शिकार वन (पशुमृग) को सम्मिलित किया है।[222] वन उपज के अधीक्षक को 'कुप्याध्यक्ष' कहा जाता था।[223] राजा ने कुप्याध्यक्ष को निर्देश दिया था कि वह चोरी से पेड़ काटने[224] वाले तथा शिकार और जंगली उत्पाद चुराने वालों[225] को दंडित करे। कुप्याध्यक्ष महत्वपूर्ण जंगली उत्पाद एकत्र करता था जिससे जीविका के साधन तथा सुरक्षा की सामाग्रियाँ बनाई जाती थीं।[226] कौटिल्य ने वन से प्राप्त सामग्रियों से निर्मित चीजों को राजकीय माल बतलाया है।[227] अर्थशास्त्र के अनुसार समस्त वन पर राजा का एकाधिकार था, मगर व्यवहार में ऐसा नही रहा होगा।

जातको के अध्ययन से पता चलता है कि जिनके पास न तो कृषि योग्य भूमि थी न ही जीने के लिए कोई शिल्प था, उनके जीवन का आधार वन ही था। इस श्रेणी में बहेलिया, शिकारी तथ बनवासी आते थे।[228]

विष्णु के अनुसार राजा को हाथीवाले जंगलों (नागवन) की देखभाल के लिए योग्य कर्मचारी नियुक्त करना चाहिए।[229] याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा को दुर्ग ऐसी जगह बनाना चाहिए जो जंगलों से घिरा हो।[230] कामन्दक राजा के मनोरंजन के लिए शिकारवन की स्थापना करने को कहते है।[231] कालिदास के अनुसार घने विस्तृत जंगलों से इमारती लकड़ी तथा ईधन के अतिरिक्त रुरु[232] तथा कृष्णसार[233] का पवित्र चर्म, हिरण तथा अन्य जानवर[234], कस्तूरी मृग की नाभि से कस्तूरी (मृगानाभि)[235], लाह[236], और राजसत्ता के चिन्ह के रुप में प्रयोग लाये जाने वाले तथा चँवर का काम देने वाली चमरी गाय का दुम[237] प्राप्त होता था। कालिदास हाथी पर एक मात्र राजा का अधिकार तो बताते है मगर वन पर राजा के एकाधिकार की चर्चा नहीं करते।[238] दान पत्र में वन अधिकारी (अरण्याधिकृत) का उल्लेख मिलता है। अतः कुछ जंगलो का उपयोग मात्र राजा के लिए ही होता था।[239] परन्तु मौर्योत्तर तथा गुप्त काल में ऐसे जंगल के उदाहरण नहीं मिलते जिन पर राजा का एकाधिकार हो। जंगल पर राजा के एकाधिकार के विषय में विधिनिर्माताओं के मौन को देखते हुए यह सम्भव लगता है कि मौर्योत्तर तथा गुप्त काल में संभवतः राज्य तन्त्र के सामन्ती करण के कारण जंगल तथा उससे प्राप्त आय पर राजकीय आधार क्षतिग्रस्त हुआ होगा।[240]

1. ऋग्वेद, 7,6,5, 10, 176, 6.
2. मजुमदार आर, सी, वैदिक एज, पृ0 358.
3. ऋग्वेद, 1, 65, 4.
4. ऐतरेय ब्रा0, 7,29.
5. अथर्ववेद,4,22,2.
6. मजुमदार, आर, सी, वैदिक एज,पृ0 437.
7. अथर्ववेद, 3,29.
8. गौतम ध0 सू0 10,24-27.
9. वशिष्ठ ध0 सू0 19,37.
10. गौतम ध0 सू0 10,25-26.
11. मनु 8,307.
12. वशिष्ठ 19,14.
13. मनुस्मृति-7,80.
14. शा0 प0-72,15.
15. शा0 प0-88,15.
16. मनुस्मृति- 7,127.
17. शान्ति पर्व -88,16.
18. मनुस्मृति -7,39.
19. मनुस्मृति -7,171,2.
20. कौटिल्य-अर्थशास्त्र-[illegible],5,2.
21. शान्ति पर्व- 72,16-19.
22. शान्ति पर्व- 72,16-19.
23. कामन्दक- 5-84.
24. बौधा0 धर्मसुत्र-1,10,18,1.
25. गौतम- 10-25.
26. हरदत्त, गौतम-10,240 पर.

27. कौटिल्य-अर्थशास्त्र-2,15.

28. कौटिल्य-अर्थशास्त्र-2,35.

29. नारद- 18.48, विष्णु-3.22.

30. मनुस्मृति- 7.30.

31. मनुस्मृति- 10.118.

32. कौटिल्य-अर्थशास्त्र-2-6.

33. कौटिल्य-अर्थशास्त्र-2.6.

34. कौटिल्य-अर्थशास्त्र-2.24.

35. कौटिल्य-अर्थशास्त्र-13.2.

36. स्ट्रेबो-15.1.40.

37. मनुस्मृति-8.32.33.

38. मनुस्मृति-8.32-33.

39. महाभारत- 12.38.12.

40. कृत्यकल्पतरु- राजधर्म काण्ड- पृ0-88-92.

41. मानसोल्लास विंशति, 2,3-163-64.

42. कौटिल्य अर्थशास्त्र- 5.2.

43. मनुस्मृति- 10.118.

44. कौटिल्य-अर्थशास्त्र- 2.1.

45. कौटिल्य-अर्थशास्त्र- 1,13,2,19.

46. महाभारत- शान्तिपर्व-13,61,25.

47. यू. एन. घोषाल, कन्ट्री ब्यूशन्स टू द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ0 4-5 बूल्हर, एपि0 इं0-1,पृ0 75.

48. वैदिक इण्डेक्स, 2, 62.

49. एत0 ब्रा0, 7,29.

50. यू. एन. घोषाल, समहिन्दू फिस्कल टर्मस डिस्करड, पृ0 203.

51. जातक, 1, पृ0 199,399,2 पृ0 240,3, पृ0 9,5,पृ0 98.

52. मिलिन्द, पृ0 146.

53. ए0 इ0.8, संख्या-6,1,14
54. टामस, ज.रा.ए.सो., 1909, पृ0 467
55. चार्ल्स ल्याल, ज.रा.ए.सो.,1908, पृ0 850-51
56. के.एस.नीलकान्त. शास्त्री, इं, हि, क्वा., 20 पृ0 285-287
57. मैती, इकोनॉमिक लाईफ ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ0 61
58. विष्णु, 3.22-23
59. मनु, 7.130
60. शा0 प0, 69,24,72,10
61. बुद्धचरित, 2,44
62. बृहस्पति, आपदधर्म अनुच्छेद, श्लोक 20
63. महावंश, 28,4
64. शा0 प0 2,6
65. शा0 प0 2,15
66. यू.एन. घोषाल, सम हिन्दू फिस्कल टर्मस डिस्कस्ड, 2, पृ0 205
67. अमरकोष पर क्षीरस्वामी की टीका, 2,8.28
68. कॉ0 इं0 इं0 13, संख्या 26,1.9; संख्या 27,1,11, संख्या; 28,1.27 आदि।
69. कॉ0 इं0 इं0, पृ0 254, टि. 4; पृ. 120, टि. 0-1.
70. कॉ0 इं0 इं0, संख्या 39,1.68; संख्या 40,1,12; संख्या-41,1,14 आदि।
71. सेल.इन्स., पृ0 372, टि0 7; ए0 इं0, पृ0. 293; मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, 1, पृ0 277.
72. मनु. 7,307.
73. अ0 शा0, 2,15.
74. अ0 शा0, की टीका, 2.15, ज0 वि0 इ0 रि0 सो0, 11, भाग-2, पृ0 83-84.
75. 'अमर' की टीका, 2,8,28.
76. ए0 इं0, 8, संख्या-6,11,15-16.
77. सौदरानन्द काव्य, 2,27.
78. कॉ0 इं0 इं0, 3, संख्या-1,1.22.

79. वही, संख्या 60,1.13.

80. वही, संख्या 55,1.26.

81. ए० इ०, 24, संख्या-9,1.14.

82. वही, 23, संख्या-18, 1.10.

83. कॉ० इं० इं०, 3, संख्या- 81,1,22.

84. वही, संख्या 41,1.9.

85. वही, संख्या 29,1.97.

86. कॉ० इं०, 13, संख्या 26,1.9.

87. ए० इं०, संख्या-11,1.15; वही 7,1.15.

88. मनु, 7,130.

89. कौटिल्य, 2,35.

90. कौटिल्य, 2,35.

91. कौटिल्य, 2,15.

92. अ० शा०, 1.13.

93. अ० शा०, 2.35.

94. अ० शा०, 2.6.

95. शा० प०, 67,83.

96. विष्णु, 3,35.

97. मनु,7,130.

98. शामशास्त्री, अर्थशास्त्री (अनुवाद), सप्तम संस्करण, पृ० 158.

99. एन.सी. बन्द्योपाध्याय, कौटिल्य, पृ० 139,140.

100. मनु, 7.130 तथा विष्णु, 3,35.

101. हि० रे० सि०, पृ० 61.

102. कॉ० इं० इ०, 3, संख्या 27,1,11; संख्या 28,1.17; संख्या 29,1.14.

103. कॉ० इं० इं०, 3, संख्या 27,1.11; संख्या 28,1.17; संख्या 29,1.14. हि० रे० सि०, पृ० 61.

104. हि० रे० सि०, पृ० 61.

105. हि0 रे0 सि0, पृ0 62.

106. सेल0 इन्स0 पृ0 372.

107. ए0 इं0, 30; संख्या 30, 1,20.

108. आ0 शा0, 2,24.

109. आ0 शा0, 2,1.

110. आ0 शा0, 2,24

111. रा. शा. शर्मा, प्रोसीडिंग्स ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1957, पृ0 63

112. रा. शा. शर्मा, वही।

113. मनु 8, 264.

114. मनु,11,62

115. नारद, 11,20.

116. ओरेसियों, 35,435;1.

117. कां0 इं0 इं0, 2,भाग1, पृ0 55

118. का0 इं0 इं0, पृ0 63

119. कां0 इं0 इं0, पृ0 155

120. कां0 इं0 इं0, पृष्ठ 179.

121. कां0 इं0 इं0, पृष्ठ 65

122. लूडर्स लिस्ट, संख्या 42 तथा ए0 इं0, 16, संख्या-17(1), पृ0 (4-5)

123. कां0 इं0 इं0, 3, संख्या 67

124. मनु, 9,272

125. रा. श. शर्मा; वही पृ0 63

126. कां इं0 इं0, 2 भाग-1, पृ0 22,29,54 आदि; ए0 इं0, 19 संख्या 33,1,4

127. कां इं0 इं0, 2 भाग-1, पृ0 7-9

128. कां इं0 इं0, 2 भाग-1, पृ0 22

129. वृहस्पति, 17, 11-12

130. ए0 इं0, 120, संख्या- 7,1,3

131. ए0 इ0, 8, सख्या-6,11,9-16

132. का इ0, इं0, 3,संख्या- 14,1,17

133. द्विजेन्द्र नाथ झा, लैंड रेविन्यू इन द मौर्य एंड गुप्त पीरियड्स, पृ0 19 का इ0 इं0, 3, संख्या-21,1,12; संख्या 22,1,16; संख्या 23.1.7; संख्या 26,1,81 संख्या 29,1,9; संख्या 31,1,8; संख्या 38,1,26; ए0 इं0 8; संख्या 28,1,17

134. कां इं0 इं0; 3पृ0 98 टिप्पणी1

135. हि. रे. सि., पृ0 210

136. मैती, वही, पृ0 61

137. कां इ0 इं0, 3,संख्या 21,22,23,26 आदि।

138. अल्तेकर, राष्ट्रकूटाज एड देयर टाइम्स, पृ0 216

139. ज. रा. ए. सो., 193, पृ0 165

140. अलतेकर, वही, पृ0 216

141. का इं0 इं0, 3 संख्या 26, 11,8-9

142. सेल. इन्स., पृ0 266 टिप्पणी।

143. मैती इकनॉमिक लाइफ, पृ0 85

144. इं0 ए0, 12, पृ0 189, संख्या 39

145. कां. इं. इं., 3 पृ0 97-98.

146. घोषाल, वही, पृ0 210

147. सेल. इन्स, पृ0 371, संख्या 5.

148. मैती, वही, पृ0 62

149. मैती, वही, पृ0 62

150. रागतरंगिणी (स्टेन का अनुवाद),2, पृ0 291-292

151. पुष्पा नियोगी, इकॅानामिक हिस्ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया, पृ0 187

152. ए. इ., 19, संख्या 21,1,10; कां. इं.3, संख्या 30,1,13

153. ए. इ., संख्या 13,1.6,11,सख्या, 21,1,11

154. कां. इं. इं., संख्या 60,1,12; ए. इं.,2, संख्या 30,1,8;4,संख्या 16,1,9;9,

सख्या 53,1,9,10, सख्या 16,1,15

155. ए. इ., 7, संख्या 22,1,15

156. ए. इ. 31, संख्या 35,1,12; संख्या, 39,1,21; कां. इ. इ.3 संख्या- 31,8,1,26

157. ए. इ., 19, संख्या 21,1,10; का. इं. इं., 3, संख्या 30,1,13

158. हि. रे. सि. पृ0 213

159. मैती, वही, पृ0 63

160. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 4,पृष्ठ 450

161. वही, पृ0 454.

162. एं. इं., 11, संख्या 21,1,11.

163. एं. इं. 7, संख्या 22,1,15

164. एं. इं. 21, संख्या 35,1,12

165. इ. ए., 7, पृ0 25

166. हि. रे. सि., पृ0 219.

167. मैती, वही, पृ0 87

168. मैती, वही, पृ0 88

169. फ्लीट, पृ0 246, 30. ति ए. इं. 15, पृ0 42, 18.

170. बोस, वहीं, पृ0 168 टिप्पणी

171. जातक 4,323,

172. जातक 4,323,

173. बोस, वही, 407 के बाद, पृ0 169

174. बोस, वही, पृ0 168 टिप्पणी

175. नियोगी-हिस्ट्री ऑफ द गहडवाल डायनेस्टी- पृ0- 183,

176. इपि0 इं0- 2.360,

177. एरियन- 12

178. कौटिल्य-अर्थशास्त्र- पृ0 2, 15,

179. मनुस्मृति- पृ0- 10, 120,

180. कौटिल्य- अर्थशास्त्र- पृ0 2,24,

181. महाभारत- 14, 95,

182. महाभारत- शान्ति पर्व- 122, 4

183. कौटिल्य- अर्थशास्त्र- पृ0- 2,1,

184. महाभारत- 2, 61,25

185. कौटिल्य- अर्थशास्त्र- 3,9

186. बोस, उपर्युक्त- पृ0- 176,

187. कौटिल्य- अर्थशास्त्र- 3-9,

188. वशिष्ठ धर्मसूत्र- 1, 42

189. मनुस्मृति- 7,133,

190. आ. शा. 2,24

191. हि. रे. सि., पृ0 30, ति0,

192. मनु, 4,253

193. ए. इं., 8, संख्या 6,1.15-16

194. सेल. इन्स., पृ0 409, 1.12

195. ज. न्यू. सी. इं. 22, पृ. 63

196. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया चतुर्थ सस्करण, पृ0 328

197. शा0 प0, 128, 20-21

198. शा0 प0, 128, 20-21

199. शा0 प0, 87, 29-32

200. अवदान शतक, पृ0 56

201. मनु, 10,118

202. मनु, 10, 120

203. मनु, 10, 120

204. वृहस्पति, आपद्धर्म कांडम्, श्लोक 7

205. मनु 8. 398.

206. मनु, 7. 133; वृहस्पति, आपद्धर्म कांडम् श्लोक 20.

207. अ. शा., 2,24

208. हि. रे. सि., पृ0 30, टि00 1

209. हि. रे. सि., पृ0 30-31

210. विष्णु, 57,16

211. नन्दपडित, विष्णु, 57.16 पर टीका।

212. मनु, 4,253.

213. याज्ञ., 1,166

214. रा0 श0 शर्मा, शूद्राज इन एन्शियेन्ट इन्डिया, पृ0 217, टि0 4

215. ए. इं., 1, संख्या 1,1.39

216. ए. इं., 8, संख्या 8 (4) 1,3

217. ए. इं., संख्या, 8 (5) 1.9

218. ए. इं., संख्या, 23,1.16.

219. ए. इं., संख्या, 39 (अ),1.13.

220. मैती, वही, परिशिष्ट 2.

221. अ. शा., 12, 13.

222. अ. शा., 12, 3.

223. अ. शा., 2,17.

224. अ. शा., 2,17.

225. अ. शा., 4,10.

226. अ. शा., 2,17.

227. अ0 शा0, 2,35.

228. जातक, 3,पृ0 150

229. विष्णु, 3,16

230. याज्ञ0 1,321

231. कामन्दक 14,28-41

232. रघु 2,31

233. रघु 4,13

234. ऋतु 6,13

235. ऋतु 6,13

236. कुमार, 1,13

237. रघु 16,2

238. रघु 17,66

239. ए.इं.,1, संख्या 6,1.5

240. रा.श. शर्मा, इण्डियन फ्यूडलिज्म, कलकत्ता, 1965, अध्याय।

अध्याय ५
कृषि श्रम और श्रमजीवी

अध्याय 5

कृषि श्रम और श्रमजीवी

(क) सामान्य स्थिति

ऋग्वेद के समय से ही कृषि एवं कृषक समाज से सम्बन्धित जानकारी मिलने लगती है। ऋग्वेद के अनुसार अश्विन ने सर्वप्रथम मनु को हल चलाना तथा जौ की खेती करना सिखाया।1

दशस्यान्ता मनवे पूर्ण दिवि यवं वृकेण कर्षथः।

तावामद्य सुमितिभिः शुभस्वती अश्विना प्रस्तुवीमहि।।

ऋग्वेद काल में कृषि सम्बन्धी ज्ञान बहुत अधिक सुव्यवस्थित नहीं था किन्तु कृषि का ज्ञान अवश्य था।[2] ऋग्वेद के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन आर्यो के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन में कबायली संगठन के चिन्ह दृष्टिगोचर होते है। तत्कालीन आर्यो के भौतिक जीवन मे पशुपालन का विशेष महत्व था। गाविष्टि अर्थात 'गायों की गवेषणा' ही युद्ध का पर्याय माना जाता था। एक स्थान पर तो स्वयं देवताओ को गायों से उत्पन्न हुआ बताया गया है।[3] कृषि क्षेत्रों के अतिक्रमण की अपेक्षा मवेशियों का हरण कहीं अधिक गंभीर समस्या थी। पशुचारण की तुलना में कृषि का धंधा नगण्य था। ऋग्वेद के 10, 462 श्लोकों मे से केवल 24 में ही कृषि का उल्लेख है। संहिता के मूल भाग में तो कृषि के महत्व के केवल तीन शब्द मिलते हैं- अर्दर, धान्य एवं वपन्ति।[4] कृष अर्थात खेती करना शब्द भी इन मूल खण्डो में अत्यन्त दुर्लभ है। कृष्टि शब्द का उल्लेख 33 बार हुआ है, लेकिन इसका उपयोग अधिकतर लोगों के अर्थ में जैसे- पंचकृष्टयः। सिंचाई से सम्बन्धित उल्लेख भी परवर्तीकालीन मंडलों में ही मिलते हैं।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में जंगल काटने[5], भूमि जोत कर बीज बोने[6], हसिया से काटकर फसल घर ले जाने[7], फसल से खलिहान[8] पर अनाज अलग करने और छाज से भूसा अलग करने[9,10] सम्बन्धी कृषि कार्यो का उल्लेख मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद के अन्तिम काल में कृषि का आगमन हो गया था; जो संभवतः अनार्यो के सम्पर्क के कारण हुआ होगा। शायद इसी कारण आर्य इसे विजित लोगों का धंधा कहकर पुकारते थे।

चूंकि ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था के उपरोक्त साक्ष्यों से केवल निर्वाह अर्थ-व्यवस्था का ही आभास मिलता है अतः हम कह सकते हैं कि उनका सामाजिक संगठन कबायली था। समाज में ऐसा विभाजन नहीं दिखता कि एक विशेष वर्ग उत्पादक है तथा दूसरा वर्ग उत्पादन का नियंत्रणकर्ता। परवर्ती कालीन पुरूष सूक्त[11] के आधार पर ऋग्वैदिक काल के आरंभ से ही ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य एवं शूद्र रूपी चार वर्णीय समाज की कल्पना भी की गई है। इस सूक्त में इन चारों वर्णों की उत्पत्ति आदि पुरूष के विभिन्न अंगों से बतलाई गई है। यह तो हुई वर्ण व्यवस्था की दैवीय उत्पत्ति। किंतु यदि वर्ण व्यवस्था का अर्थ उत्पादन पद्धति द्वारा सर्जित एक ऐसी सामाजिक रचना से लगाया जाए, जिसमें पुरोहित तथा योद्धा के रूप में ऊंची श्रेणियों के लोग उत्पादन के नियंत्रणकर्ता तथा अधिशेष उत्पादन के संग्रहकर्ता थे तथा निम्न श्रेणी में आने वाले किसान, कारीगर, कृषि श्रमिक आदि ही उत्पादन का कार्य करते थे, तो इस प्रकार का चिन्ह ऋग्वेद में दृष्टिगत नहीं होता है। तत्कालीन समाज में उत्पादक एवं संग्रहकर्ता ही अनेक भोक्ता होते थे। जन एवं विश् की तुलना में 'गृह' कोई महत्वपूर्ण इकाई नहीं थी। यही कारण है कि विश् को आधार मानकर आ-विश्, उप-विश्, नि-विश्, प्र-विश् तथा पुनर-विश् आदि का उल्लेख ऋग्वेद में प्रायः मिलता है।[12] कोई भी विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग न था। निम्न वर्ग पर कोई अपात्रता न थी। यहां तक कि राजा भी संपूर्ण कबीले में अन्य लोगों के ही समान था।

'यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो वभूव।'[13]

तत्कालीन आर्यो के जीवन में स्थायित्व के पुट कम थे। मवेशी, दास, रथ, घोड़ो आदि के दान के उल्लेख तो मिलते हैं किन्तु भूमि के नहीं। न ही राजा को भूमि का रक्षक बताया गया है। अतः भूमि का स्वामित्व किसी निजी व्यक्ति अथवा छोटे परिवार के हाथों में नहीं अपितु सम्पूर्ण कबीले के पास होना अधिक संभव प्रतीत होता है। राजन् की पहचान कबीले से होती थी। अतः तत्कालीन राजा एक कबीले के मुखिया से अधिक कुछ नहीं था तथा एक पुरोहित तथा एक रणयोद्धा का कार्य करता था। उसे जनस्य, गोपा, गोपटि व जनराजन कहा गया है। राजा का कर्त्तव्य कबीले की रक्षा करना तथा गोसंपदा प्रदान करना था। गणपति, व्रातपः, विशपति आदि का उल्लेख भी इस बात का संकेत करता है कि राजा एक पैत्रिक शासक नहीं अपितु कबीले का सर्वेसर्वा था।[14]

अतः पूर्ववैदिक काल मे परिवार के लोग ही अधिकतर कृषि कार्य करते थे।

ऋग्वेद में आर्यो तथा अनार्यो के बीच संघर्षो का उल्लेख मिलता है जो अनार्य युद्ध मे हार जाते थे उन्हें बंदी बनाकर दास बना लिया जाता था। दास सभी शिल्पों में आर्यो की सहायता करते थे क्योंकि आर्यो का प्रमुख कार्य पशुपालन था। ऋग्वेद काल के अंत में दासों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। जो व्यक्ति ऋण नहीं चुका पाते थे उनको भी दास बना लिया जाता था। आर्य स्वामी दासों को अपनी संपत्ति समझकर दूसरों को दान दिया करते थे। ऋग्वेद में ऐसा वर्णन नहीं मिलता जिससे सिद्ध हो सके कि दासों का तत्कालीन अर्थ व्यवस्था में प्रमुख भाग था। वे बड़ी संख्या में कृषि उत्पादन में या अन्य उद्योगों में लगाये जाते थे। इसके साक्ष्य नहीं मिलते हैं।

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि कुछ दासियां अनाज गहने का घरेलू कार्य करती थीं।[15] उत्तर वैदिक काल की मुख्य विशेषताएं थी- कृषि प्रधान अर्थ व्यवस्था, कबायली संरचना में दरार का पड़ना और वर्ण व्यवस्था का जन्म तथा क्षेत्रगत साम्राज्यों का उदय। तकनीकी विकास की दृष्टि से इसी काल में लौह युग का आरंभ हुआ। आरंभ में कोसांबी जैसे विद्वानों ने लोहे के क्रांतिकारी योगदान पर बल दिया मगर कालांतर में इसमें ढील आ गई।[16] लौह तकनीक का प्रयोग शुरू में अस्त्रों के लिए होता था मगर धीरे-धीरे कृषि एवं अन्य आर्थिक गतिविधियों में होने लगा।[17] ऋग्वैदिक कालीन अनेक छोटे कबीले एक दूसरे में विलीन होकर बड़े क्षेत्रगत जनपदों को जन्म दे रहे थे। उदाहरणार्थ पुरू एवं भरत मिलकर पुरू और तुर्वश एवं क्रिवि मिलकर पांचाल कहलाए। हांलाकि सभा, समिति, विदथ, परिषद आदि संस्थाओं की गतिविधियों में कबायली जीवन की झलक मिलती है- समिति एवं परिषद की पहचान कबीले के लोगों से होती थी, जैसे, पंचालों की समिति, राजा की घोषणा 'कबीले में' होती थी।[18] भूमि दान भी राजा कबीले की राय से करता था।

यद्यपि उत्पादन की मात्रा का अनुमान लगाना असंभव है, किंतु चूंकि समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय जैसे अनुत्पादी वर्गो का उदय हो चुका था, अतः कृषक अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने की क्षमता रखते थे। समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अनुत्पादी वर्ग होते हुए भी उत्पादन के नियंत्रण कर्ता थे। वैश्य तथा शूद्र निम्न वर्ग के थे तथा उत्पादन के लिए उत्तरदायी थे। उत्पादन

पर नियत्रण के लिए होड के कारण ही वर्ण संघर्ष उत्पन्न होना शुरू हुआ होगा। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण, वैश्य एव शूद्रो पर क्षत्रियो की विजय दिखलाई गई है।[19] राजा को परमश्रेष्ठ ब्राह्मण कहा गया। चूकि मुद्रा प्रणाली का अविर्भाव अभी तक नहीं हुआ था, अतः बलि, शुल्क, भाग आदि जो राजा को दिए जाते थे वे वस्तु रूप में होते थे। वैश्य प्रमुख खाद्य उत्पादक थे। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा को विश्मत्ता अर्थात् उत्पादक वर्गो का भक्षक बताया गया है।[20] शतपथ ब्राह्मण में अनेक अवतरणो में दर्शाया गया है कि क्षत्रिय वर्ग किस प्रकार कृषकों पर हुक्म चलाता था।[21]

अथर्ववेद में 'पृथु वैन्य' को कृषि का पहला अनुसंधान कर्ता माना गया है।[22]

तां पृथ्वी वैन्यो-धोक् तां कृषिच सत्यं चाधोक।

कृषि सम्बन्धित निम्नलिखित श्रमजीवियों का उल्लेख वेदो में हुआ है- (1) कीनाश, कृषिबल (खेत जोतने वाला), (2) गोप और गोपाल (चरवाहा), (3) अविपाल और अजापाल, (4) पशुप (चरवाहा), (5) धान्यकृत (धान्य साफ करने वाला श्रमिक), (6) उपल प्रक्षणी (अन्न की भूसी साफ करने वाला श्रमिक) (7) वप (बीज बोने वाला) आदि।

उत्तरवैदिक कालीन आर्य कृषि के प्रति रूचि रखते थे तथा मूलतः कृषक थे ऋग्वेद में एक स्थान पर जुआ खेलने वालों के लिए सलाह दी गयी है कि वे जुआ खेलना छोड़कर अपने को कृषि कर्म में लगायें। इससे उसे पत्नी सम्पत्ति तथा पशुओ की प्राप्ति होगी।[23]

अक्षौर्मा दीव्यः कृशिमित् कृषस्व वित्तेरमस्व बहुमन्यमान।

तत्र गावः किन्तव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।।

धीरे-धीरे समाज में बड़े-बड़े भूमि खण्डों वाले कृषक हो गये जो अपने कृषि कार्य करने के लिए श्रमिक रखने लगे। इसके साथ ही ऐसे लोगों की संख्या बढ़ी जो दूसरों की भूमि पर कृषि कार्य करके जीवन यापन करते थे। इन श्रमिकों के पास अपनी भूमि न थी। इसी प्रवृत्ति के कारण दास प्रथा बढ़ी तथा दासो का उपयोग कृषि तथा गृह कार्यो में लिया जाने लगा। श्रम करने वाले स्त्री तथा पुरूष दोनों प्रकार के थे। अथर्ववेद में ऐसी श्रमजीवी दासी का उल्लेख है, जो ओखली में मूसल से धान साफ करने

का कार्य करती थी।

तद्ध दास्यार्दहस्ता समङ्क्त उल्खलंमुसलं शुम्भतापः।[24]

इस प्रकार कृषि सम्बन्धी कार्यो को सम्पन्न कराने से लेकर अन्न की सफाई करने के काम के लिए श्रमिक लगाए जाते थे। वैदिक युगीन चरवाहा पशुओं को सुबह चराने के लिए चरागाहों पर ले जाता था तथा शाम को सुरक्षित लौटा कर स्वामी को सुपुर्द करता था।

आवर्तनं निवतृमपि गोप निवर्तताम्।
अनिवर्त निवर्तय पुनर्न इन्द्रगा देहि।।[25]

पशु को चराने वाले चरवाहों का मुख्य गुण था कि वे पशुओं का ख्याल रखते थे तथा उनको बिना किसी हानि के वापस चरागाहो से घर तक ले आते थे। इसके लिए वह पूषन् देवता की आराधना करता था। पूषन् देवता पशुरक्षक देवता थे तथा वे पशुओ को सुरक्षा प्रदान करते थे।

पूषा त्वेतश्चावयत प्रविद्वान् नष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।[26]

धर्मसूत्र जैसे परवर्ती साहित्यों के अध्ययन से पता चलता है कि पशुओं की सुरक्षा सम्बन्धित कई दण्डों का विधान बनाया गया था। जैसे- यदि किसी चरवाहा के पशु से किसी के कृषि को नुकसान होता था तो चरवाहा दण्ड का भागी होता था।

पशुपीडिते स्वामिदोषः।
पालसंयुक्ते तु तस्मिन।[27]

अगर कोई चरवाहा, पशुओं को बिना सूचना दिये उसके स्वामी को लौटाता था तो दण्ड का भागी होता था।

अवशिनः कीनाशस्य कर्मन्यासो दण्डताडनम्।[28]

यदि किसी चरवाहे से पशु चोरी चला जाता था, खो जाता था अथवा नष्ट हो जाता था तो चरवाहे को उसके स्वामी को क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी।

अवरूध्य पशून् मारणे नाशने वा स्वामिभ्योडवसृजेत्।[29]

अतः सूत्रकाल मे भी कृषि जीविकोपार्जन का प्रधान आधार था। अधिकाधिक लोग कृषि कार्य में व्यस्त रहते थे। वैश्य वर्ग के लोग कृषि कार्य से सम्बद्ध थे। कृषि के साथ-साथ पशुपालन का भी प्रधान धधा था।

ब्राह्मण ग्रंथों में जिन अनार्यो को शूद्र कहा गया है वे सभी दास न थे। उसमें से कुछ स्वतन्त्र थे।[30,31] संभवतः इन शूद्रो का अभिप्राय उन अनार्यो से है जो आर्यो के दास बना लिए गये थे। वैदिक काल मे दास धन देकर दासता से मुक्त हो सकता था।[32] प्रोफेसर कीथ के मतानुसार भूमि के स्वामी दासो से कृषि कार्य सम्पन्न कराते थे। घोषाल के मतानुसार इस काल मे कुछ व्यक्ति ऋण न चुका सकने पर तथा कुछ स्वेच्छा से दास हो जाते थे।

सूत्रग्रंथ तथा प्रारंभिक बौद्ध साहित्य काल में दासों की संख्या में विस्तार हुआ। धर्म सूत्र से पता चलता है कि ऐसे ब्राह्मण थे जिनके पास 1000 बैल थे।[30] ये ब्राह्मण निश्चित ही दासों या सेवकों से कृषि कार्य कराते होंगे। कात्यायन श्रौत सूत्र में अन्न और हल के साथ दो दास दिए जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार शांखायन श्रौत सूत्र मे लिखा है कि भूमि के साथ दास दिया जाना चाहिए। उपरोक्त उदाहरणों से दासों द्वारा कृषि कार्यो की पुष्टि होती है। टीकाकारों के अनुसार ये गर्भदास थे अर्थात् वे बालक जिनके माता या पिता दासी या दास थे।

पालि ग्रंथों में ऐसे भूमिपतियों का वर्णन मिलता है जिनके पास 800 एकड़ से 8000 एकड़ तक भूमि थी। वे भूमि पर मजदूरों एवं दासों से कृषि कार्य करवाते थे। सुत्तनिपात में काशी भारद्वाज नामक ब्राह्मण का उल्लेख है जिसकी भूमि को 500 हल जोतते थे। शाक्य और कोलिय गणराज्यों में अभिजात वर्ग के क्षत्रिय भी अपनी भूमि पर कृषि कार्य दासों एवं सेवकों से करवाते थे। जातकों से ज्ञात होता है कि साधारण किसान भी कभी कभी कृषि कार्य में दासों की सहायता लेते थे।[34]

बौद्धत्रिपिटिक तथा जातकों में ऐसे धनाढ्य व्यापारियों का उल्लेख मिलता है जो 40 से 80

करोड़ स्वर्ण मुद्राओं के स्वामी थे। ऐसे धनी व्यापारी निश्चित ही कृषि-कार्य तथा घरेलू कार्यो के लिए दासो का उपयोग करते थे। जातको से ज्ञात होता है कि कुछ स्वामी जब उनके घर पर कार्य नहीं होता था तो अपने दास-दासियों को दूसरे लोगो के यहां भी कार्य करने के लिए भेजते थे। उससे होने वाली आय को वे अपने स्वामी को सौप देते थे। इस समय कुछ लोग दासों का व्यापार भी करते थे।[35]

अतः बौद्ध ग्रंथों में अनेक उदाहरण स्वामी और सेवक के सम्बन्ध में सूचनाये देते हैं। इस काल मे धनी ब्राह्मण भी कृषक होते थे उनके पास सैंकड़ों हल तथा बैल होते थे। ऐसे लोग अपने अतिरिक्त अन्य लोगों को श्रम के निमित्त नियुक्त करते थे।[36] अनेक निर्धन ब्राह्मण भी कृषि कार्य कर जीवन व्यतीत करते थे जो निर्धनतावश केवल एक बैल से ही अपनी भूमि जोतने के लिए बाध्य थे।[37]

श्रमिकों को अपने स्वामी द्वारा वेतन, धन या अन्न, किसी भी रूप में मिल सकता था।[38] जिससे वे अपने परिवार के सदस्यों का पालन पोषण करते थे। कौटिल्य के अनुसार कम्मकारों को अन्न के रूप मे वेतन मिलता था। यदि उनका कोई वेतन निश्चित नहीं रहता था तो उन्हें उपज का दसवां हिस्सा (1/10) पारिश्रमिक के रूप में मिलता था।[39]

कर्मकस्य कर्म सम्बन्ध मासन्ना विधुः।

यथा सम्भावितं वेतनं लभेत्।

कर्मकालानुरूप मसम्भाषित वेतनम्।

कर्षकः सस्यानां गोपालकः सर्पिषां वैदेहकः,

पण्यानामात्मना व्यहृतानां दशभागसम्भवित वेतनो लभेत्।

कार्य करने वालों के श्रम को देखते हुए लगता है कि श्रमिकों का वेतन बहुत कम था।[40] जातकों से ज्ञात होता है वेतन भोगी सेवक प्रातः कार्य पर चला जाता था तथा शाम को ही वापस घर पर लौटता था।[41] सुबह से शाम तक कृषि कार्य करना ही उनका नैतिक कर्तव्य था।[42] यही उनका धर्म था। स्त्री तथा पुरूष श्रमजीवी एक साथ कार्य करते थे।[43] तत्कालीन साहित्यों के वर्णानुसार निष्कर्ष निकलता है कि उस समय चार प्रकार के श्रमिक सेवा में लगे रहते थे-

1. दैनिक वेतन पाने वाले श्रमिक।

2. ठीके पर तय किये गये श्रमिक।

3. दैनिक ठीके पर तय किये गये श्रमिक।

4. घर तथा बाहर के कार्य करने वाले श्रमिक।

कौटिल्य ने पशुपालन, कृषि और व्यापार के लिए 'वार्ता' शब्द का प्रयोग किया है। ये तीनों वैश्यों के व्यवसाय बतलाये गये हैं।[44]

पाणिनि ने अपनी रचना अष्टाध्यायी में जोतने, बोने, काटने, माड़ने जैसे कृषि कार्यो को श्रमिकों द्वारा कराये जाने का वर्णन किया है।[45] पतंजलि के अनुसार श्रम को क्रय करने वाला स्वामी 'अर्थ' कहा जाता था।[46] निश्चित धन देकर निश्चित काल के लिए श्रम को क्रय करने वाले व्यक्ति को ही 'अवक्रेता' कहा जाता था। एक, दो या अधिक वर्षो के अवधि के लिए सौ, पांच सौ या हजार कार्षापण प्रदान करके श्रमिक रख लिये जाते थे।

परिक्रयणं नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणं नात्यन्तिकः क्रय एव।[47]

इस प्रकार से श्रमिकों के नामकरण के लिए श्रम की अवधि को आधार बनाया गया। पांच, छह अथवा दस कार्षापण प्राप्त करने वाले क्रमशः पंचक, सप्तक, दशक या पंचक मासिक, सप्तक मासिक, अथवा दशक मासिक इत्यादि।[48] जो श्रमिक नित्य कुछ घण्टे श्रम करता था, वह 'मासिक कर्मकर' कहा जाता था।

तमधीष्टोभृतो भूतो भावौ नह्यासौ मासमधीते। किं तर्हि ?
मुहुर्त्तमसाव धीष्टो आसं तस्कर्म करोति। मासर्थो मुहूर्तो मासः।[49]

तत्कालीन साहित्यो के अध्ययन से हमें श्रमिकों के श्रम करने के तरीकों के आधार पर वर्गीकरण का ज्ञान मिलता है। समाज में कई श्रमिक थे जो वेतन तो पाते थे मगर मनोयोगपूर्वक श्रम नहीं करते थे। इस प्रकार के श्रमिक स्वामी के ललाट को देखकर कार्य में लग जाते थे। बिना स्वामी की उपस्थिति के कार्य नहीं करते थे। ऐसे श्रमिक 'ललाटिक' कहलाते थे। इसके विपरीत अत्यन्त लगन से भी कार्य करने वाले श्रमिक पाये जाते थे। मन्द गति से कार्य करने वाले श्रमिकों को 'शीतक' कहा जाता

था। जो श्रमिक चतुरता एव तीव्रता से अपना कार्य करते थे, उन्हे 'उष्णक' कहा जाता था।

'य आशु कर्तव्यान् थिश्चिरेण करोति स उच्यते शीतक इति।

यः पुनराशु कर्त्तव्यानर्थानाश्वेव करोति स उच्यते उष्णक इति।[56]

जातकों से मालूम होता है कि बीज बोने के उत्सव में राजा स्वयं इल चलाता था।[51] इससे स्पष्ट है कि गाँव के निवासियों के लिए कृषि का बहुत महत्व था। जातक कथाओं से स्पष्ट है कि दुर्मिक्षों के कारण प्रजा को जो कष्ट होता था उसके लिए राजा जिम्मेदार होता था।[52] कौटिल्य ने स्पष्ट लिखा है कि दुर्मिक्ष के समय राजा को किसानों का भूराजस्व माफ कर देना चाहिए।[53] जातक तथा महाभारत आदि में दुर्मिक्षों को बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित करने के पीछे राजा तथा प्रजा को नैतिक शिक्षा देने का उद्देश्य छिपा हुआ है।

महाकाव्यों में भी कृषि का उत्तम वर्णन मिलता हैं। रामायण के अनुसार राज्य में कृषि का उत्तम उन्नयन हुआ। महाभारत के वर्णानुसार नारद ने युधिष्ठिर से पूछा कि "क्या आप राज्य के श्रमिको पर ध्यान देते है? राज्य की समृद्धि श्रमिकों के सहयोग पर ही आधारित है"

'कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशकिता।

सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं हात्र कारणम्।।[54]

इसी से मिलते-जुलते उदारहण रामायण में भी मिलते है। एक जगह राम भरत से पूछते है कि "क्या तुम्हारे राज्य में कृषि तथा पशुपालन पर निर्भर जनता अपना जीवन सम्भोग कर रही हैं? क्या तुम उनकी आवश्यकताओं एवम् कठिनायो को दूर करते हो? यह राजा प्रधान कर्तव्य है कि वह बिना भेदभाव के प्रजा की रक्षा करें।'

कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीवनः।[55]

वार्तायां संश्रितस्तात लोको अयं सुख मेधते।।

तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चिते भरणं कृतम्।

रक्ष्या हि राजा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः।।

इस युग में क्षत्रिय शासकों द्वारा हल चलाना कृषि कार्य की महानता को दर्शाता हैं। राजा जनक ने यज्ञ करते समय हल चलाया था।[56] वैष्णव यज्ञ के समय दुर्योधन ने भी हल चलाया था।[57] द्विजातियों द्वारा भी कृषि कार्य सम्पन्न किया जाता था।[58] कृष्ण ने भी अपने को कृषि कर्म करने वाला घोषित किया था।

'कृषामि मेदिनी पार्थ भूत्वा कार्ष्णायिसों महान्।'[59]

विदुर के अनुसार कृषि कर्म को न जानने वाले व्यक्ति को समिति की सदस्यता के अयोग्य समझा जाता था।

न नः स समिति गच्छेद्यश्च नोर्वपेत्कृषिम्[60]

तत्कालीन प्रदेश कृषि की दृष्टि से अत्यन्त उर्वर और समृद्ध थे।

'ततः समृद्धान् कुमशस्य मालिनः क्षणेन वत्सान् मुदितानुपागमत्।'[61]

तथा 'बधुधान्य समाकुलम्।'[62]

रामायण के अनुसार अयोध्या के कृषक 'शालि' और विविध धान्यों परिपूर्ण थे।[63] धान्य की सम्पन्नता ही राज्य की समृद्धि मानी जाती थी।[65] ग्रामों के श्वेत जुते रहते थे तथा विभिन्न फसलों से लहलहाते रहते थे।[65]

महाकाव्यों के अध्ययन से कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि श्रमिकों की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। रामायण के एक सन्दर्भ के अनुसार राम भरत से कहते है कि 'यह अत्यन्त दुख का विषय है कि राज्य में श्रमिकों को भोजन और वेतन समय से नहीं मिलता जिससे उनकी दुर्दशा होती हैं। यहीं उनकी दुर्दशा का कारण हैं।'-

कालातिक्रमणाच्चैव भक्तवेतनयोर्भृताः।[66]

भर्तुःकुप्यन्ति दुष्यन्ति सोअनर्थः सुमहान् स्मृतः।।

रामायण में ही ऐसा भी वर्णन मिलता है कि, जिसके अनुसार श्रमिकों की स्थिति अत्यन्त उच्च

थी तथा उनका मान माता-पिता तुल्य तथा ब्राह्मण समान था।

'कच्चिद्देवान् पितृन् भृत्यान् गुरुन् पितुसमानथि।'[67]

अतः समाज में कृषि और पशुपालन करने वाला व्यक्ति जीवन के क्षेत्र में पूर्णतः संतुष्ट और सुखी माना जाता था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लगातार परिश्रम करता था तथा अधिक श्रम होने पर श्रमिकों को भी साथ में लगाता था।

नारद के अनुसार भूमि के स्वामी की अनुपस्थिति में भूमि को दूसरे लोग जोत सकते थे। अगर भूमि का स्वामी बीच मे वापस लौट आता था तो जोतने आदि का खर्च प्रदान करके भूक्षेत्र को पुनः ले सकता था। यदि भूमि के स्वामी की स्थिति दयनीय रहती थी तो सात वर्षो तक भूमि की उपज से होने वाली आय में से जोतने वाले का खर्च कटता रहता था तथा आठवें वर्ष भूमि के स्वामी को उसकी भूमि प्रदान कर दी जाती थी।

'अशक्तप्रेतनष्टेषु, क्षेत्रकेष्वनिवारितः।
क्षेत्रचेद् विकृषेद् कश्चिद्श्नुर्वात तत्फलम्।।
विकृष्यमाणे क्षेत्रेचेत् क्षेत्रिकः पुनरावजेत।
खिलोपचारं तत्सर्व दत्वा स्वं क्षेत्रभाप्नुयात्।।
तदष्टभागो पचत्यपाद् यावत्सप्तसमाः गताः।
सम्प्राप्ते त्वष्टमे वर्षे भुक्त क्षेत्रं लभेत् सः।।'[68]

याज्ञवल्क्य के अनुसार खेत में कार्य करने वाले श्रमिको को फसल का दसवां भाग प्राप्त होता था।[69] यह मजदूरी श्रम की तुलना में अत्यन्त कम थी। पूर्वमध्य युग में आकर श्रमिकों की स्थिति में सुधार हुआ। देवण्ण भट्ट के अनुसार दसवाँ भाग तब देना चाहिए जब बिना अधिक श्रम दिये फसल हो जाए। उसके अनुसार श्रमिक को स्वामी से भोजन तथा कपड़ा भी मिलना चाहिए। अगर उसे भोजन तथा कपड़ा नही मिलता तो उपज का तिहाई भाग मिलना चाहिए।[70] अतः उस समय श्रमिकों की स्थिति अच्छी थी। जो श्रमिक कम वेतन पाते थे वे अपने स्वामी से कटु व्यवहार करते थे। श्रमिकों को पन्द्रह

दिन का सवेतन अवकाश भी देय था। अस्वस्थता अवकाश तथा निवृत्तिकोश भी देय था। यदि कोई श्रमिक बहुत दिनों तक बीमार रहता था तो तीन माह का अतिरिक्त वेतन दिया जाता था।

'मनुस्मृति' पर टीका करते हुए मेधातिथि ने कहा है कि प्रतिमास अनाज के भार का एक द्रोण और प्रत्येक छः माह पर वस्त्र एक साधारण श्रमिक को पारिश्रमिक के रुप में प्रदान किया जाना चाहिए। जिसका आधार एक द्रोण प्रतिमास होना चाहिए।[71]

कामंदकी नितिसार के अनुसार कृषि तथा पशुपालन का बहुमुखी प्रसार हुआ।

'पशुपाल्यं कृषि पण्यं वार्तानुजीविनाम्।

सम्पन्नों वार्तया साधून वृत्ते भयमृच्छति।।'[72]

चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल एक कल्याणकारी राज्य की धारणा को चारितार्थ करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार- "प्रजा के सुख में राजा का सुख है। प्रजा की भलाई में राजा की भलाई है। राजा को जो अच्छा लगे वह हितकर नहीं है। हितकर वह है जो प्रजा को अच्छा लगे।"

दासों तथा कर्मकारों (श्रमिकों) को मालिकों के अत्याचार से बचाने के लिए विस्तृत नियम थे।

कौटिल्य ने भी वर्णक्रम व्यवस्था को सामाजिक संगठन का आधार माना है। कौटिल्य ने चारों वर्णो के व्यवसाय निर्धारित किये हैं। शूद्र को शिल्पकला, सेवावृत्ति के अतिरिकत कृषि, पशुपालन और वाणिज्य द्वारा आजीविका चलाने की अनुमति दी है। इसे सम्मिलित रुप से वार्ता कहा गया है इस व्यवस्था से शूद्र के आर्थिक सुधार का प्रभाव उसकी समाजिक स्थिति पर भी पड़ा है। कौटिल्य ने ऐसे सघों का उल्लेख किया है जो कृषि, पशु पालन तथा व्यापार के द्वारा धनोपार्जन करके जीवन निर्वाह करते थे। इन संघों मे निश्चित ही वैश्य तथा शूद्र कार्य करते थे। अर्थशास्त्र में एक और परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है कि शूद्रों को आर्य कहा गया तथा म्लेच्छ से भिन्न माना गया।

मेगस्थनीज ने इंडिका में भारतीय समाज को सात जातियों में विभक्त किया है।

1- दार्शनिक

2- किसान

3- अहीर

4- कारीगर

5- सैनिक

6- निरीक्षक

7- सभासद या शासक वर्ग।

कौटिल्य के अनुसार भूमि कृषियोग्य होनी चाहिए। वह अदेव मातृक हो अर्थात बिना वर्षा के भी अच्छी खेती हो सके। मेगस्थनीज के अनुसार दूसरी जाति में भी किसान लोग हैं जो दूसरो से संख्या में कहीं अधिक है। अन्य राजकीय सेवाओं से मुक्त होने के कारण सारा समय कृषि में ही लगाते थे। शत्रु, भूमि पर कार्य करते हुए किसान को हानि नहीं पहुँचाता था क्योंकि इस वर्ग के लोग सर्वसधारण द्वारा हितकारी माने जाते थे। इसलिए हानि से बचाये जाते थे।

राजकीय भूमि पर दासों, कर्मकरों तथा कैदियों द्वारा जुताई और बुआई होती थी। दास, कर्मकरो को भोजन आदि दिया जाता था तथा कार्य के दौरान नकद मासिक वेतन आदि भी दिया जाता था। ऐसी भी राजकीय भूमि थी जिसपर सीताध्यक्ष द्वारा कृषि नहीं करायी जाती थी। ऐसी भूमि पर नकद कृषक खेती करते थे। कृषियोग्य तैयार खेतों को खेती करने के लिए किसानों को दे दिया जाता था। जो भूमि कृषियोग्य न हो उसे यदि कोई कृषियोग्य बना लेता था तो उससे वापस नहीं ली जाती थी। मेगस्थनीज, स्ट्रेवो, एरियन इत्यादि के अनुसार सारी भूमि राजा की होती थी। वे राजा के लिए खेती करते थे और '$^{1}/4$' भाग राजा को लगान के रुप मे देते थे। संभवतः इन लेखकों का अभिप्राय उस राजकीय भूमि से है जो किसानों को बटाई पर दी जाती थी। कौटिल्य के अनुसार यदि कृषक अपना बीज, बैल व हल लाते थे तो $^{1}/2$ भाग के अधिकारी हो जाते थे। यदि कृषि उपकरण राज्य की तरफ से प्रयोग होता था तो $^{1}/4$ या $^{1}/3$ अंश के भागी थे। राजकीय भूमि के अतिरिक्त कृषकों तथा गृहपतियों की निजी भूमि भी थी जिसपर वह कृषि करके उपज का एक भाग राजा को कर के रुप मे देते थे। कृषकों के ऊपर नियंत्रण नियामक अधिकारी, समाहर्त्ता, स्थानिक तथा गोप का होता था जो भूमि तथा कर का लेखा जोखा रखते थे। राज्य की भूमि की व्यवस्था सीताध्यक्ष[73] करता था तथा आय को सीता कहते थे। अर्थशास्त्र में क्षेत्रक (भू-स्वामी) तथा उपवास (काश्तकार) के बीच स्पष्ट भेद दिखाया गया है। 'स्वाम्य' से व्यक्ति का भूमि पर अधिकार सिद्ध हो जाता था। व्यक्ति को भूमि के क्रय, विक्रय का अधिकार था।

सिंचाई के लिए कृषक का अलग कर देना पड़ता था। बदले मे राज्य सिंचाई की व्यवस्था करता था। यह कर 1/4 या 1/3 था। अतः भूमिकर तथा सिंचाई कर मिलाकर किसानों को आधी उपज दे देनी पड़ती थी।

'संगम' रचनाओं में कृषि में संलग्न लोगों को 'वेलालर' कहा गया है। उनके प्रमुख 'वेलिर' कहलाते थे। वेलिर कृषि भूमि के बड़े भाग के स्वामी थे।[74] वेलालर दो भागो में विभाजित थे 1. जमींदार 2. भूमिहीन खेतिहर या मजदूर वर्ग। प्राचीन जगली जातियॉं बहुत निर्धन थीं। समाज में आर्थिक विषमता थी कृषि से प्राप्त राजस्व राज्य की आय का एक मुख्य स्त्रोत था। कृषि के विकास के कारण ही राज्य नियमित सेना रखने में समर्थ था।[75] भूमिकर कृषक 'हिरण्य' (अर्थात नकद) या 'मेय' (अन्न के तौल) दोनों रुप में दे सकते थे।

गुप्त युग में साधारणतय छोटे-छोटे कृषक होते थे, जो स्वयं अपने परिवार के साथ जमीन जोतते थे।[76] कुछ व्यक्तियों के पास बड़े-बड़े भूमिखण्ड भी थे। गुणयगढ़ के दानपत्र में 11 पाटक भूमि का उल्लेख है।[77] ऐसे खेतों का स्वामी मजदूरों से बटाई या खेती कराता था। नारद तथा वृहस्पति ने स्वामी तथा मजदूरों सम्बन्धी नियम अपनी स्मृतियों में दिये हैं। नारद के अनुसार यदि मजदूर से उसकी मजदूरी निश्चित न हुई हो तो उपज का 1/10 भाग मजदूरी के रुप में देना चाहिए।[78] यदि मजदूरी तय होने पर मजदूर कार्य न करे तो तय की गई मजदूरी का दूना खेत के स्वामी को देना चाहिए।[79] वृहस्पति ने कृषि मजदूरों को उनके बेतन या उपज के भाग के अनुसार तीन वर्गों- निम्न, मध्य और उच्च में विभाजित किया है। वृहस्पति के अनुसार जो मजदूर भोजन तथा कपड़ा लेकर काम करे उसे उपज का $^{1}/_{5}$ तथा विना कपड़ा, भोजन के $^{1}/_{3}$ भाग देना चाहिए।[80]

गुप्त युग में जैसे-जैसे मठों एवम् मंदिरों को भूमिदान मे दी जाने लगी वैसे-वैसे कृषि मजदूरों की स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। इस जमीन पर सरकार को कर नहीं देना पड़ता था। बिहार तथा मठों की जमीन अस्थायी पट्टेदार जोतते थे। मगर भूस्वामियो को मालगुजारी देना पड़ता था। भूमिदान की प्रक्रिया का एक दोष यह भी था कि जो मजदूर सम्मानपूर्वक मजदूरी करते थे, अब भूमिपतियों के अधीन अर्द्धदास बन गये।

गुप्तकाल में वैश्य वर्ण के कर्म कृषि तथा व्यवसाय थे। कर्षक के पर्याय वैश्य वर्ग में गिनाये जाते

है। विष्णु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार आधी उपज पर शूद्रो को खेत दिया जाता था। अतः शूद्र भी कर्षक थे। वैश्य लोग जब कृषि कार्य से विरत होने लगे तो शूद्र वर्ण ने कृषि कार्य को ग्रहण कर लिया। अतः शूद्रो की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ।

कालिदास[81] के अनुसार राष्ट्रीय आर्थिक विकास मे कृषि और पशुपालन का महत्व था। उस समय जंगलों की भूमि को साफ करके तथा परती भूमि को कृषि योग्य बनाकर काफी विस्तार किया गया। कुछ व्यक्तियों ने परती भूमि पर कृषि करने की आज्ञा माँगी क्योकि उस पर कर कम लगता था।[82] ऋषि लोग भी अपने आश्रमों के निकट की भूमि पर कृषिकार्य करके अपना निर्वाह करते थे।[83]

कृषि के महत्व को समझते हुए वृहस्पति के अनुसार अन्न चुराने वाले चोर को दस गुना उसके स्वामी को दंड रुप में तथा राज्य को दो गुना अन्न देना पड़ता था।[84] खेती का औजार या फसल नष्ट करने पर भी दण्ड का विधान था।[85] यदि ग्वाले की लापरवाही से फसल नष्ट होती थी तो ग्वाले को दण्ड दिया जाता था।[86]

रघुवंश के अनुसार कृषकों की स्त्रियाँ खेतों की रखवाली करती थीं। क्योंकि पशु, चूहे, टिड्डियाँ और चिड़ियाँ फसल नष्ट कर देती थीं।[87] मेगस्थनीज के अनुसार राजा उन चिड़ीमारों तथा शिकारियों को पुरस्कृत करता था जो फसल को नुकसान करने वाले तत्वों को मारते थे।[88] वृहस्पति ने सामुदायिक कृषि का भी वर्णन किया है।[89]

(ख) लघु किसानों एवे श्रमिको की स्थिति

कृषक समाज का अध्ययन इतिहास, समाजशास्त्र एवं नृतत्वशास्त्र में विशेष रुप से किया जाता है। किन्तु कृषक समाज की कोई निश्चित परिभाषा देना संभव नहीं है। भारतीय कृषि व्यवस्था का अध्ययन करने वाले विद्वान प्रायः पाश्चात्य समाज के अध्ययनों के प्रतिमानों के माध्यम से भारतीय समाज को समझने का प्रयास करते हैं किन्तु वर्ण एवं जाति व्यवस्था के आधार पर विकसित होने वाला समाज इन प्रतिमानों के अनुकूल नहीं है। प्रायः कृषक समाज का अर्थ सीमित रुप में छोटे किसानों एवं मजदूरों से लिया जाता है, पर भारतीय सन्दर्भ में इसे व्यापक अर्थ में लेना पड़ेगा, इसमें एक तरफ बड़े-बड़े भूखण्डो के स्वामी आते हैं जो स्वयं कृषि कर्म न करके मजदूरों पर आश्रित हैं, तो दूसरी ओर छोटे-छोटे

किसान है जो अपनी भूमि पर स्वयं खेती करते हैं। इन्हीं के साथ बटाई पर कृषि करने वाले एवं केवल मजदूरी पर कार्य करने वाले व्यक्ति हैं। इसी प्रकार मौर्य काल के पूर्व से ही कृषि केवल वैश्यों का कर्म नही था, ब्राह्मण एवं क्षत्रिय भी बड़े भूखण्डो के स्वामी थे तथा इन दोनों वर्गो में छोटे किसान भी थे। सूत्रो, स्मृतियो आदि में भले ही वर्ण व्यवस्था को आदर्श के रुप मे प्रस्तुत किया गया हो किन्तु वास्तविकता यही है कि काल क्रम में सभी वर्ण कृषि से सम्बन्धित हो गये थे। यहाँ हमारा उद्देश्य छोटे किसानों एवं मजदूरो की स्थिति का विवेचन करना है।

भारत में आरम्भ से ही इस प्रकार का समाज था। हड़प्पा सभ्यता में भी दो किसान और मजदूर थे जिसका प्रमाण दो कमरो वाले मकानों से मिलता है। ऋग्वेद में 'कीनाश' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'वेदिक इन्डेक्स'[90] के अनुसार इसका अर्थ है हल चलाने वाला या खेती करने वाला। 'विश' का प्रयोग संभवत खेती करने वालों के लिये किया था जो बाद मे तीसरे वर्ण के रुप में स्थापित हुआ। ऋग्वेद मे समाज का स्पष्ट विभाजन नही था, अतः खेती करने वालों की स्थिति भी निम्न नहीं थी। किन्तु उत्तर वैदिक काल में वैश्यों, जिनका मुख्य कार्य कृषि था, की स्थिति क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों से निम्न हो गई। ऐतरेय ब्राह्मण[91] में वैश्य को दूसरों को कर देने वाला 'अन्यस्य वलिकृत्' कहा गया है और उसे इच्छानुसार दबाया जाने वाला माना गया है। इसी सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि इस समय तक क्षत्रिय भूखण्डो के स्वामी हो गये थे और वैश्यों में अधिकतर काश्तकार हो गये थे। राजसूय यज्ञ के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण,[92] पुरोहित, क्षत्रिय को सत्य, सम्पन्नता एवं प्रकाश का आशीर्वाद देता है जबकि वैश्य को असत्य, कष्ट एवं अन्धकार। वैदिक युग के पश्चात् मुद्रा का प्रचुर मात्रा में प्रचलन हो गया था। इसके कारण धनी व्यापारियो तथा बड़े क्षेत्रपतियो और दूसरी तरफ छोटे कारीगरों तथा खेतिहर मजदूरों में महत्वपूर्ण अन्तर उत्पन्न हो गया।[93] इसके फलस्वरुप कृषकों की स्थिति में गिरावट अवश्य आई होगी। इसी प्रकार वैश्यों एवं शूद्रों (जो पशुपालन एवं कृषिकार्यों में वैश्यों की मजदूरी करते थे) में निकटता के कारण कृषकों को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। डा० आर० एस० शर्मा[94] का मत है कि भोजन, विवाह आदि के सन्दर्भ में वैश्यों को शूद्रों के समान माना गया, किन्तु इसके पक्ष में स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं। यज्ञ करने वाला वैश्य ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के समान माना जाता था।[95] दण्ड के सन्दर्भ मे भी वैश्य शूद्र से अधिक सुविधा युक्त थे। पर जो वैश्य छोटे किसानों के रुप में थे उनकी स्थिति

(13 38) एव वृहस्पति (26, 10, 28, 43, 66) ने स्पष्ट रुप से पारिवारिक भूमि के विभाजन का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल से परिवारो एवं भूमि का वंटवारा आरम्भ हो गया था। मौर्य युग के बड़े भूमिखण्ड एक कुल्यवाप या 4, 2.1/2 और 1.1/2 द्रोण वाप की माप में बंटने लगे थे। छोटे-छोटे खेतों में दासो को रखना सनव नहीं था, अतः शूद्र बंटाई के आधार पर खेती करने लगे थे। अनेक लोग बड़े क्षेत्रपतियो के खेतों पर मजदूरी भी करते थे। इस प्रकार गुप्तकाल के बाद सामन्त, मजदूर एवं छोटे किसान स्पष्ट रुप से मिलने लगते हैं। गुप्तकाल के लेखों से सिद्ध होता है कि राजा ब्राह्मणो को भूमि और ग्राम ही दान मे नही देता था, बल्कि जिसे दान दिया जाता था वह भूराजस्व के साथ ही इन ग्रामों का नियन्त्रण करने वाला भी होता था।[103] प्रोफेसर बी. एन. एस. यादव का मत है कि गुप्तोत्तर काल में प्रशासन के विघटन एवं विकेन्द्रीकरण के कारण शासकों ने रिश्तेदारों परिवार के सदस्यों, सामन्तो एवं,अधिकारियों को उनकी सेवाओं के बदले भूमिदान देना आरम्भ कर दिया था।[104] कृषि के बाद इस प्रक्रिया मे और वृद्धि हुई। दान दिये हुये गाँवो के किसानों को नये स्वामियों को भूराजस्व देना पड़ता था एव उनके आदेशों का पालन करना पड़ता था। इस प्रकार काश्तकारों की संख्या मे वृद्धि होती गयी।

किसानों के लिये तत्कालीन साहित्य में अनेक शब्द मिलते हैं। ऋग्वेद में 'कीनाश' शब्द का प्रयोग किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे किसानों के लिए "कृषि वल" शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थशास्त्र में कर्षक का प्रयोग हुआ है। इसी ग्रन्थ में बटाई पर खेती करने वालों के लिये 'अर्धसीतक' एवं मजदूरो के लिए 'कर्मकार' का प्रयोग किया गया है अमरकोश में 'क्षेत्रजीवि', 'कर्षक' एवं 'कीनाश' शब्दों का प्रयोग हुआ है।

मौर्योत्तर काल से ही स्वतंत्र कृषकों की अपेक्षा आश्रित काश्तकारों की संख्या में वृद्धि होती गई। स्मृतिग्रन्थों में इनके लिए अर्धसीरी, 'अर्धिक', 'भूमि कर्षक' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। गुप्तकाल के पश्चात् इस प्रथा में और विकास हुआ। बौद्ध ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि क्षेत्र स्वामी अपने खेत किसानों और शूद्रों को बटाई पर देते थे और उनसे छठा भाग प्राप्त करते थे। मनु के अनुसार बटाई पर काश्त करने वाले शूद्र उपज का आधा भाग पाते थे, याज्ञवल्क्य भी मनु का समर्थन करते हैं। किन्तु वृहस्पति के अनुसार यदि क्षेत्र स्वामी काश्तकार को खाना और वस्त्र देता है तो उसे उपज का पाँचवां

भाग मिलना चाहिए, यदि नही तो उपज का तीसरा भाग। पराशर स्मृति मे बटाईदार (अर्धिक) को एक पृथक जाति (मिली-जुली) माना गया है जिससे प्रतीत होता है कि इस समय तक यह प्रथा महत्वपूर्ण ढंग से प्रचलित हो गई थी। इन काश्तकारो के अतिरिक्त केवल मजदूरी पर आश्रित रहने वाले लोग भी थे। कात्यायन के अनुसार (300 ई. से 600 ई.) ऋण के कारण कृषि में वेगार की प्रथा भी थी। कर्षक, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र राजा का ऋण शारीरिक श्रम के द्वारा लौटा सकते हैं। पर यह श्रम दास-श्रम से भिन्न था। जहॉं तक मजदूरी का प्रश्न है विभिन्न, ग्रन्थों में अलग-अलग मत मिलते है। शान्ति पर्व[105] के अनुसार मजदूर को वर्ष भर की उपज का सातवॉं भाग मिलना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार यदि मजदूरी निश्चित नही है तो मजदूर को कृषि, दूध आदि का दसवॉं भाग मिलना चाहिए। याज्ञवल्क्य एवं नारद स्मृतियों में भी यही मत मिलता है।

वैदिक एवं बौद्ध ग्रन्थो से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण भी साधारणतः कृषि कर्म से सम्बन्धित थे, किन्तु मौर्यकाल के पश्चात् कृषि कर्म को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। मनु के अनुसार कृषि वैश्यों का धर्म है। ब्राह्मण केवल आपत् काल में कृषि कर सकता है। अर्थशास्त्र में भी वार्ता कृषि, व्यापार, पशुपालन को वेदों के समान महत्व दिया गया है। किन्तु गुप्तकाल मे उच्चवर्णों के लिए कृषि कर्म का निषेध किया गया है। वैश्य व्यापार में लग गये थे, अतः निर्धन वैश्य एवं शूद्र ही कृषि से सम्बन्धित हुये। इनकी स्थिति काश्तकारो एवं मजदूरों की थी। मनु[106] के अनुसार ब्राह्मण के घर में वैश्य एवं शूद्र अतिथितियों को दासों के साथ भोजन दिया जाता था। इसी से कृषकों की निम्न सामाजिक स्थिति का आभास मिल जाता है। परवर्ती ग्रन्थों में यहॉं तक मान लिया गया कि जो ब्राह्मण थोड़ी भूमि में कृषि करता है उराकी स्थिति इस जन्म में शूद्र की हो जाती है और वह मृत्यु के पश्चात् नर्क मे जाता है।[107]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मौर्योत्तर काल में लघु कृषकों एवं कृषि मजदूरों की स्थिति में निश्चित रूप से गिरावट आ गई थी। इस अवस्था के मुख्य कारण इस प्रकार हैं। सर्व प्रथम भू-राजस्व एवं अन्य कर छोटे किसानों के लिये सदैव हानिकारक होते हैं।[108] कृषि ही आय का मुख्य साधन थी। अतः राजा, सामन्त एवं बड़े क्षेत्रपति अधिक से अधिक कर लगाना चाहते थे। कृषि के अतिरिक्त अन्य अनेको प्रकार के कर लगाये जाते थे। दूसरा महत्वपूर्ण कारण इस वर्ग की बढ़ती हुई निर्धनता थी। जैसा लल्लन जी गोपाल[1109] ने दिखाया है किसान दिन भर भूखा रह-रह कर खेती का

कार्य करता था। अच्छे घरों के व्यक्ति भी निर्धन होकर बेगार करने के लिये वाध्य हो जाते थे। कृषि से सम्बन्धित निर्धन वैश्यों एवं शूद्रो के लिये मनु को यह व्यवस्था देनी पड़ी कि कृषि से जीविका निर्वाह न होने पर ये अन्य वर्णों के कार्य कर सकते है।

तीसरा कारण यह है कि छोटे किसान एवं मजदूर अकाल, युद्धों, शासको एवं अधिकारियों के अत्याचारो तथा ऋण एवं बेगार से निरन्तर पीड़ित रहते थे। दुर्भिक्ष का उल्लेख आरम्भ से ही मिलता है, किन्तु बाद मे जनसंख्या एवं कृषि का विस्तार होने पर इसका व्यापक प्रभाव स्वाभाविक था। पहले सेनायें फसलों को हानि नहीं पहुँचाती थीं, किन्तु अर्थशास्त्र में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि शत्रु राज्य की फसलों को नष्ट कर देना चाहिए। दुर्भिक्ष पड़ने पर या शत्रु का आक्रमण होने पर प्रभावित क्षेत्र की पूरी जनसंख्या दूसरे क्षेत्र मे चली जाती थी। परवर्ती ग्रन्थों जैसे राजतंरगिणी मानसोल्लास एवं तिलक मंजरी में स्पष्ट उल्लेख है कि सेनायें विजित क्षेत्र का अन्न लूट लेती थीं तथा खड़ी फसलें नष्ट कर देती थीं। यह परम्परा निश्चित रुप से पहले भी रही होगी जिसका संकेत कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मिल जाता है। इसी प्रकार कर लेने वाला अधिकारी एवं ऋण देने वाले धनी व्यक्ति भी किसानों को चूसने में लगे रहते थे। एक जातक में बुद्ध को इस प्रकार कहते हुए दिखाया गया है

"आने वाले समय में जगत् का पतन होगा---- इसके राजा निर्धन हो जायंगे। तब ये राजा अपनी आवश्यकता के कारण सभी लोगों को अपने कार्य में लगा लेगे। लोग अपना कार्य छोड़ कर राजा के लिए हल चलायेंगे, बीज बोयेंगे, फसल की रखवाली करेंगे----। इस प्रकार वे अपने रिक्त बर्तनों को न देखते हुए राजा का भण्डार भरेगें।"[110]

विन्टरनित्ज़[111] का मत है कि यह कथन पाँचवीं-छठीं शताब्दी का चित्रण करता है। किन्तु छोटे किसानों, दासों एवं मजदूरों की स्थिति पहले भी बहुत अच्छी नहीं थी। एक तरफ बड़े-बड़े भू-खण्डों के स्वामी थे, दूसरी तरफ निर्धन दास, वेतन पाने वाले मजदूर एवं छोटे किसान। आर्थिक कारणों से ही दासों के साथ मजदूरों की संख्या बढ़ने लगी। दासता का आरम्भ युद्धों से हुआ और मजदूरी का निर्धनता से। अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं पालि ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि अधिकतर लोगों का जीवन-यापन बड़ी कठिनाई से हो पाता था। इसी कारण निर्धन व्यक्ति अपनी इच्छा से दास हो जाते थे, अथवा हेय होने पर भी मजदूरी करने के लिये बाध्य थे। जातक कथाओं में ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें ब्राह्मण और

गृहपति भी निर्धनता के कारण दास-वृत्ति स्वीकार कर लेते थे। किन्तु प्राचीन भारत में जमींदारी प्रथा नही थी। क्षेत्रपति अपनी भूमि का स्वतत्र स्वामी था। छोटा किसान भी अपनी भूमि का स्वामी था और बड़े स्वामियो के समान आदर का पात्र था। ग्रामभोजक जमींदार नहीं था। वह केवल अपने भोग ग्राम से कर प्राप्त करता था, पर स्वामी नहीं था। पर छोटे किसान एवं मजदूर ही संख्या में अधिक थे एवं उन्हीं को तरह तरह के कष्ट उठाने पड़ते थे। पर उनकी स्थिति अछूतों जैसी नही थी। दास एवं वेतनभोगी श्रमिक स्वामियो के साथ ही रहते थे। दासों के साथ सदैव अमानवीय व्यवहार नहीं होता था। पर इनकी श्रेणी या संघ नही था जिससे इनकी आर्थिक स्थिति दयनीय ही रहती थी।

1 ऋग्वेद 8. 22. 6,

2 ऋग्वेद 10, 94, 13,

3. ऋग्वेद 4, 50, 11,

4. ऋग्वेद 2, 14, 11, 4, 24, 7, 5, 53, 13, 6, 6, 4,

5. ऋग्वेद 10, 23,

6. ऋग्वेद 10, 101, 134,

7. ऋग्वेद 10, 131, 2,

8. ऋग्वेद 10, 48, 7,

9. ऋग्वेद 10, 94, 13,

9. ऋग्वेद 10, 90, 12.

10. तुलनीय आर0 ब्रिफाल्ट, द मदर्स, खण्ड 3, 1952, पृ0 59

11. ऋग्वेद 10, 90, 12

12. आर0 एस0 शर्मा, 'कान्फिलक्ट डिस्ट्रीब्युसन एण्ड फरेन्शियेसन इन ऋग्वैदिक सोसायटी,' इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यु, खण्ड 4, अंक 1, जुलाई 1977 पृ0 8-9

13. ऋग्वेद 10, 34, 12.

14. आर0 एस0 शर्मा, 'फ्राम गोपटि टू भूपति' (वाइमर, पूर्वी जर्मनी, 23-31 मई, 1979)

15. बन्द्योपाध्याय, इक्नामिक लाइफ एंड प्रोग्रेस इन एंशियंट इंडिया, पृ0 132.

16. ए0 घोष, दि सिटी इन अर्ली हिस्टॉरिकल इंडिया, 1973, पृ0 5-11.

17. आर0 एस0 शर्मा, इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, खंड 2, अंक 1 जुलाई 1975, पृ0 1-13.

18. तैत्तिरीय संहिता, 1, 8, 12.

19. ऐतरेय ब्राम्हण, 7, 29.

20. ऐतरेप ब्राम्हण, 7, 17.

21. जोगी राज बासु, इंडिया ऑफ दि एज ऑफ दि ब्राम्हणाज, 1969, पृ0 115-116.

22. अथर्ववेद, 8, 10, 24.

23. ऋग्वेद, 10, 34, 13.

24. अथर्ववेद, 12, 3, 13.

25. ऋग्वेद, 10, 19, 5-6.

26 ऋग्वेद, 10, 17, 3

27 गौ0 धर्म सूत्र, 12, 19, 20.

28. आ0 धर्म सूत्र, 2.2, 28, 2-3.

29 आ0 धर्म सूत्र, 28, 6.

30. काठक सहिता, 31, 1.

31. शतपथ ब्राम्हण, 5, 5, 4, 9.

32. ऋग्वेद, 6, 22, 10.

33. वसिष्ठ ध0 सूत्र, 29-18, 19.

34. उरग जातक

35. गौ0 धर्म सूत्र, 7, 14. आपस्तव ध0 सू0 1, 7, 20, 11, 12, 15, वसिष्ठ ध0 सू0 2, 39.

36. सुत्तनिपात, 1, 4, 1, 171, जातक 11, 181.

37. बर्लिगेम् बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स, 29.2, 343.

38. जातक, 2, 139, 3, 129, 257, 326, 450, 320, 5, 212.

39. अर्थशास्त्र, 3, 13.

40. जातक, 1, 475, 2, 325.

41. जातक, 3, 445, 446.

42. जातक, 4, 144, 277.

43. जातक, 1, 111, 475, 3, 446.

44. कौटिल्य, 1, 4, पृ0 8.

45. पाणिनी, 5, 2, 212, 6, 2, 187, 5, 4, 121.

46. महाभाष्य, 3, 1, 103.

47. महाभाष्य, 1, 4, 44.

48. महाभाष्य, 5, 4, 116.

49. महाभाष्य, 5, 1, 80.

50. महाभाष्य, 4, 4, 66, 5, 2, 72.

51. जातक 4, 167, 6, 479.

52. जातक, 2, 367 के आगे, 5, 139 के आगे, 6, 48.

53 कौटिल्य, 2. 1.

54 महाभारत, सभापर्व, 5, 21.

55. रामायण, अयोध्याकाड, 100, 48.

56. रामायण, अयोध्याकांड, 2, 1181, 28, 29.

57. महाभारत, 3, 255, 28.

58. महाभारत, 2, 49, 24

59. महाभारत 12, 342, 79

60. महाभारत 5, 36, 33

61. रामायण, 2, 52, 101.

62. महाभारत, 4, 30, 8.

63. रामायण, अयोध्याकाड, 68.

64. रामायण, 3, 14.

65. रामायण, 3, 42.

66. रामायण, 2, 100, 33.

67. रामायण, 2, 110, 13.

68. नारद स्मृति, 11, 20-22.

69. याज्ञवल्क्य, 2, 194.

70. स्मृतिचन्द्रिका, 2, 20.

71. मेघातिथि, मनु0 7, 126.

72. कामंदकी नीतिसार, 2, 14.

73. अर्थशास्त्र, 2, 24.

74. सांकलिया शर्मा, आदि (सं0) 'प्राचीन भारत', पृ0 15.

75. रामशरण शर्मा, 'प्राचीन भारत', पृ0 114.

76. मैती--इकनामिक लाइफ, पृ0 100.

77. फ्लीट पृ0 164, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली 6, 1930, पृ0 53-56.

78. नारद स्मृति 6, 3.

79. नारद स्मृति 6, 5.

80 वृहस्पति. 16, 1-2.

81. रघुवश, 16, 2.

82 (क) वैन्य गुप्त का गुणयगढ़ दानपत्र-इडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली 6, पृ0 53, 36.

(ख) एपिग्राफिका इडिका, 15, पृ0 113.

(ग) एपिग्राफिका इंडिया, 20, पृ0 62.

(घ) एपिग्राफिका इडिया, 21, पृ0 81.

83. रघुवश 5, 8-9, शकुन्तला 2, पृ0 850 और 4, पृ0 903.

84. वृहस्पति 22, 23-24.

85. वृहस्पति, 23, 5.

86. नारद 11, 28.

87. मैती, वही.......1, पृ0 245-256.

88. मैकेडिल, मेगस्थनीज एड एरियन, पृ0 84.

89. वृहस्पति, 13, 27.

90. वैदिक इन्डेक्स, जि. पृ0 159.

91. ऐत ब्रा. 7.29.

92. बसु. जे आर., इण्डिया आफ द एज आफ द ब्राम्हणाज में उद्धृत, पृ0 16.

93. भट्टाचार्या, एस. सी. सम अस्पेक्ट्स आफ इंडियन सोसाइटी फ्राम सेकण्ड सेचुरी बी. सी. टु फोर्थ सेंचुरी ए. डी. पृ0 114.

94. शर्मा आर. एस. शून्द्राज इन एंशियन्ट इण्डिया।

95. भट्टाचार्या, एस. सी. उपरोक्त, पृ0 118.

96. बोस ए. एन. सोशल एण्ड रूरल इकॉनमी ऑफ नार्दर्न इंडिया, जि0 1, पृ0 63.

97. अर्थशास्त्र 2.1

98. मिलिन्द पन्ह सं0 टेंकर, आर0 एस0 शर्मा द्वारा उद्धृत, पृ0 177.

99. अर्थशास्त्र 1.3

100. यादव, बी0 एन0 एस0 द एकाउट्स ऑफ द कलि एज एण्ड द सोशल ट्रान्सीसन फ्राम ऐटीक्यूटी टु द मिडिलएज, आई0 एच0 आर0 जि, 5, सं0 1-2, 1978-79.

101. यादव बी0 एन0 एस0, "सम आस्पेक्ट्स ऑफ द चेजिगं ऑर्डर डयूरिग द शक-कुषाण एज" कुषाण-स्टडीज सं0

जी0 आर0 शर्मा, पृ0 84.

102. शर्मा, आर0 एस0 इण्डियन फ्युडैलिज्म, पृ0 61.

103 शर्मा आर0 एस0 इडियन फ्युडैलिज्म 2.

104. यादव, बी0 एन0 एस0, "सेक्युलर ग्रान्ट्स ऑफ द पोस्टगुप्त पीरिपड एण्ड सम आस्पेक्ट्स ऑफ द ग्रोथ ऑफ फ्युडल कॉम्प्लेक्स इन नार्दर्न इंडिया", लैण्ड सिस्टम एण्ड फ्युडैलिज्म इन ऐशियन्ट इंडिया, सं0 सरकार, डी0 सी0 पृ0 72.

105. महाभारत, 12.60.25.

106. मनु0 3.112, 8.88, 113, 418.

107. कथाकोश प्रकरण, पृ0 114.

108. शानिन टी. (सं0) पीजैन्ट ऐण्ड पीजैन्ट सोसाइटीज पृ0 20

109. गोपाल, एल0 इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इंडिया, पृ0 244

110. जातक, यादव, बी0 एन0 एस0 द्वारा आई0 एच0 आर0 जि0 5 मे उद्धृत भाग का हिन्दी अनुवाद।

111. विटरनित्ज, ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, पृ0 156.

अध्याय ६
निष्कर्ष

अध्याय-6

निष्कर्ष

कृषि किसी भी देश की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार हैं। वास्तव में मानव सभ्यता का इतिहास कम से कम औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व तक, कृषि के विकास का इतिहास हैं। भारत में कृषि का विकास भारत मे आर्यो के आगमन के पहले ही हो गया था। उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र बलूचिस्तान में ई.पू. 5000 के लगभग गेहूँ की उपज होती हैं। बोलन नदी के किनारे मेहरगढ़ मे उत्खनन से गेहूँ और जौ के साक्ष्य मिले हैं। इसका समय 5000 ई.पू. है। पर इस स्तर के नीचे भी ढेरो निक्षेप हैं। अतः अनुमान है कि ई.पू. 7000 तक कृषि जन्य फसल का उत्पादन होने लगा था। राजस्थान में भी 7000 से 8000 ई.पू. में कृषि के साक्ष्य मिले हैं। कश्मीर में बुर्जहोम में ई.पू. के लगभग कृषि का अनुमान किया जाता हें। उत्तर प्रदेश में कोलदिहवा स्थान से ई.पू. 5000-6000 के लगभग चावल होने का प्रमाण मिलता है। दक्षिण भारत मे ई.पू. 3000 में बजेर की फसल का साक्ष्य मिला है। हड़प्पा संस्कृति में कृषि के स्पष्ट प्रमाण मिले है। इस संस्कृति के लोग बसन्त में गेहूँ, जौ, मटर आदि की खेती करते थे। उन्हें जोतने और सिंचाई करने की आवश्यकता नहीं थीं। कपास और तिल की भी खेती होती थी। दक्षिण भारत में भी नवपाषाण युग के अन्त तक कुलथीं, उड़द एवं रागी की खेती होती थी।

भारत में आर्यों का आगमन 1500 ई.पू. तक अवश्य हो गया था। पर कृषि से उनका परिचय ईरान में ही हो गया था। अवेस्ता में 'करेश', 'हत्थ' एवं 'यवों' का उल्लेख है जो ऋग्वेद के 'कृष', 'सस्य' और 'यव' से मिलते- जुलते हैं। किन्तु पूर्व वैदिक युग तक उनका जीवन यायावर कबीलों का ही जीवन था। ऋग्वेद में कृषि से सम्बन्धित कुछ शब्द मिलते हैं पर इस समय तक कृषि का स्थान गौण ही था। इस काल में आर्यों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन था। वे निरन्तर अच्छे चरागाहों की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान तक विचरण करते थे। भारत मे आकर उन्होंने नगरी संस्कृति का तहस-नहस किया था। इसीलिए उन्होने इन्द्र को पुरन्दर कहा हैं। अब तक उनका मुख्य धन पशु-धन ही था। इसीलिये उनके जीवन में गायों और बैलो का अत्यधिक महत्व था। गाय का प्रयोग विनिमय और दान के रूप में किया

जाता था। गाय को अध्न्या माना गया था। लड़कियॉ गाय दुहने का कर्य करती थी, अतः उन्हें दुत या दुहिता कहा जाता था। ऋग्वेद में गायों के खोने, चोरी होने और हाथ-पैर टूटने की आशंकायें व्यक्त की गई हैं। पूषन् देवता से नये चरागाह देने तथा गायो की संख्या में वृद्धि करने के लिये प्रार्थनायें की गई हैं। बैलो का प्रयोग हल चलाने, बोझ ढोने तथा गाड़ियों में किया जाता था। गाय मारने वाले के लिये मृत्यु दण्ड दिया जाता था। गाय और बैल के अतिरिक्त भैंस, घोंड़े, गधे, खच्चर, कुत्ते, ऊंट, भेड़, बकरी एवं हाथी को भी पालतू बना लिया गया था। किन्तु उत्तर वैदिक काल तक आर्यों ने दस्युओं या जनजातियों को परास्त कर दिया था और अधिकतर को दास बना लिया गया था। अब उनके जीवन में स्थायित्व आ गया था और उन्होंने विभिन्न कबीलों के रुप में अपने स्थायी क्षेत्र बना लिये थे। इस स्थिति में स्वभावतः उनका ध्यान कृषि की ओर गया और कृषि का उतना ही महत्व हो गया जितना पशु पालन का। धीरे-धीरे कृषि का स्थान मुख्य हो गया और पशुपालन गौण1 इस प्रक्रिया में लोहे की खोज क्रान्तिकारी सिद्ध हुई। लोहे का प्रयोग हल, हंसिया, कुदाल, आदि रुपों में होने से कृषि क्षेत्रों में वृद्धि हुई तथा अधिक फसलें होने लगी।

कृषि के मुख्य व्यवसाय हो जाने पर भूमि स्वामित्व का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया। इस प्रश्न पर प्राचीन शास्त्रकारों से लेकर आज तक मतभेद बना हुआ हैं। स्मिथ, शामशास्त्री, हॉपकिन्स, बूहलर आदि लेखकों का विचार है कि समस्त भूमि पर राजा का स्वामित्व था। मेन ने ग्रामवासियों का सम्मिलित स्वामित्व माना है। बेडेन, पावेल, जायसवाल, आयंगर आदि ने व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार किया हैं। हमारा अनुमान है कि आरम्भ में भूमि पर कबीलों का सामूहिक अधिकार था। कबीले के सभी लोग सम्मिलित रुप से खेती करते थे। बाद में परिवार प्रथा के सुदृढ़ होने पर तथा स्थायी राज्यों का निर्माण होने पर व्यक्तिगत एवं राजकीय अधिकारों का विकास हुआ। शास्त्रकारों ने भी राजा के अधिकार का समर्थन किया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भूमि सभी लोगों की सम्पत्ति हैं। जैमिनि भी सभी का समान अधिकार मानते है। इसी परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग में भूमि-दान का उल्लेख नही मिलता जबकि पशुओं एवं दासों के दान का उल्लेख हैं। भूमि विभाजन का भी निषेध हैं। इससे स्पष्ट होता हैं कि आरम्भ में भूमि पर समूह गत अधिकार था। बाद में भी चारागाहो, तालाबों तथा अन्य कृषि के लिए अयोग्य भूमि पर

सामूहिक अधिकार रहा। पर राजनत्र के सुदृढ़ होने पर राजा का स्वामित्व बढ़ा। मनु एवं कौटिल्य ने इसी विचार का समर्थन किया है। पर समस्त भूमि पर राजा का एक मात्र अधिकार सन्देहास्पद हैं। राजा का अधिकार दो अर्थों मे था। अनेक भूखण्डों पर राजा स्वयं खेती करवाता था। इसके लिए वह दासों के श्रम का उपयोग करता था। इसी प्रकार सैद्धान्तिक रुप में वह सम्पूर्ण राज्य का स्वामी था और स्वतंत्र स्वामित्व वाले किसानों से उपज का एक निश्चित भाग प्राप्त करता था। इसीलिए भूगर्भ से निकली सम्पत्ति पर राजा का अधिकार होता था। अर्थशास्त्र मे इन दोनों प्रकारों की भूमियों से होने वाली आय के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता हैं। प्रथम प्रकार से प्राप्त आय को 'सीता' और दूसरी आय को 'भाग' कहा गया हैं। भाग के कारण ही डियोडोरस एवं स्ट्रैबों ने समस्त भू-भाग पर राजा का स्वामित्व माना हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति बिना वारिस के मर जाता था तो उसकी भूमि राजा की हो जाती थी। जो किसान अपनी भूमि की उपेक्षा करता था या कई वर्षों तक कृषि कर्म नही करता था उसकी भूमि भी राजा को मिल जाती थी। जिस खण्ड पर आबादी नही थी, या जिस पर किसी का अधिकार नही था, जैसे जंगल, परती, ऊसर आदि वह भी राजा का था। पर इससे यह सिद्ध नही होता कि व्यक्तिगत अधिकार नही था। वेदों मे प्रयुक्त 'खिल्य', 'उर्वरासा', उर्वरापत्ति', 'उर्वराजित', 'क्षेत्रसा', क्षेत्रपति' आदि शब्दो से व्यक्तिगत स्वत्व का अनुमान किया जा सकता हैं। ऋग्वेद मे अपाला का अपने पिता की भूमि के सम्बन्ध में उल्लेख है। संहिता, उपनिषद् आदि में भी व्यक्तिगत भूमि के स्पष्ट उल्लेखं हैं। जैमिनि के अनुसार भूमि का दान तभी किया जा सकता हैं। जब दानकर्ता ने उसका क्रय किया हो। बौद्ध युग में भी व्यक्तिगत स्वामित्व था। उस युग मे भूमि के स्वामी को 'खेत्तपति', 'खेत्तस्वामिक' या 'बत्थुपति' ने कहा जाता था। जातकों में अनाथ पिंडक, अम्वपालि और जीवक की कथाये हैं। जिन्होंने भूमि एवं उद्यान का दान किया था। इसी प्रकार व्यक्तिगत स्वामित्व के उदाहरण महावग्ग, दीघनिकाय, सुत्तनिपात, उत्तराध्ययन सूत्र आदि बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में मिलते हैं। भूमि की सीमा निश्चित करने, माप करने एवं क्रय-विक्रय के भी उदाहरण प्रचुर संख्या में मिलते हैं। कौटिल्य ने भी भूमि के सम्बन्ध मे व्यक्तिगत विवादों का उल्लेख किया हैं। मनु के विचारों में भीं परिवर्तित दिखाई पड़ता हैं। वह मानता है कि जो जमीन की सफाई करता है वही उसका स्वामी हैं। गौतम के अनुसार क्रय, दाय,

बंटवारा, अभिग्रंहण अथवा प्राप्त करने से व्यक्ति वस्तु का स्वामी होता हैं। मनु ने भी व्यक्तिगत सम्पत्ति प्राप्त करने की सात विधियो का उल्लेख किया हैं। मनु का समर्थन नारद एवं कात्यायन ने भी किया हैं। इससे सिद्ध होता है कि व्यावहारिक रुप में भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था। हमारा अनुमान है कि किसी न किसी रुप में उपरोक्त सभी प्रकारों के स्वामित्व साथ-साथ प्रचलित थे।

स्वामित्व के साथ ही भूमि के प्रकार का प्रश्न भी कृषि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण हो जाता हैं। आर्यो के आगमन के पूर्व कृषि मूलतः नदियों के आसपास ही होती थी। नदी क्षेत्र की भूमि स्वभावतः उपजाऊ होती है। उसमे संभवतः कृषि-उपकरणों, उर्वरकों एवं सिंचाई की भी आवश्यकता नही थी। किन्तु कृषि क्षेत्र का विस्तार होने पर भूमि के विभिन्न प्रकारों का विचार आवश्यक हो गया।

वैदिक साहित्य में तीन प्रकार की भूमि का उल्लेख है- वास्तु या मकानों की भूमि, क्षेत्र या कृषि योग्य भूमि और चरागाह। मकान निजी थे, किन्तु चरागाह सामूहिक होते थे। क्षेत्र उस भूमि का नाम था। जिस पर खेती होती थी। अष्टाध्यायी में भी कृषि योग्य भूमि को क्षेत्र कहा गया हैं। कृषि के लिये अनुपयुक्त भूमि ऊसर (ऊषर) कहलाती थीं। अधिकतर फसल कृषि से मिलती थी जिसे 'कृष्टपच्य' कहा जाता था। वनों, तालाबों आदि से बिना कृषि कर्म के जो फसल होती थीं उसे 'अकृष्टपच्य' कहा जाता था। जोती हुई भूमि को 'हल्य' या 'सीत्य' कहा जाता था। जैन साहित्य में तीन प्रकार की फसलों का उल्लेख है- क्षैत्रिक, आरामिक और आटाविक। खेत से उत्पन्न होने वाली फसल क्षैत्रिक थी,उद्यानों स प्राप्त होने वाली वस्तुयें आरामिक थीं, एवं जंगलों से प्राप्त होने वाली वस्तुयें आटविक थीं। अमरकोश में बारह प्रकार की भूमियों का उल्लेख है- उर्वरा, ऊषर, मरु, अप्रहत (परती), शादवल (घास के मैदान), पकिल (कीचड़), जल प्राय (पानी भरी),कक्ष(जल के निकट),शर्करा(कंकण युक्त), शर्करावती (रेतीली), नदी मातृक, देव मातृक।

नारद स्मृति के अनुसार जिस भूमि में एक वर्ष से खेती न की गयी हो उसे 'अर्द्धखिल', जिसमें तीन वर्ष तक खेती न की गई हो उसे 'खिल' कहा गया हैं। जिसमें पॉच वर्ष तक खेती न हुई हो वह वन ही है। बंगाल के पांचवी तथा छठीं शताब्दी के अभिलेखों में विक्रय के लिए तीन प्रकार की भूमियों का उल्लेख है- कृषि योग्य भूमि (क्षेत्र), मकान बनाने योग्य भूमि (वास्तु) और जिस पर अनेक वर्षो से कृषि

न की गई हो (खिल)।

हमारे अध्ययन काल में 'भूधारण' भू सर्वेक्षण एवं भूमि की नाप के लिये विविध विधियों का उल्लेख मिलता हैं। भूमि की नाप के लिये अंगुल, हस्तधनु, दण्ड, नडो, आढ़वाप, द्रोणवाप, कुल्य आदि का प्रयोग किया गया हैं। जहॉं तक भूमि के दान का प्रश्न है ऋग्वेद में इसका कोई उल्लेख नही हैं। शतपथ ब्राहमण में भूमि दान का निषेध किया गया हैं। किन्तु अर्थशास्त्र महाकाव्यों तथा गुप्त कालीन अभिलेखों एवं ग्रंथों से स्पष्ट हो जाता है कि इन कालो में भूमि का दान होने लगा था। खेतों के साथ गॉंव भी दान में दिये जाते थे। पर दोनों में अन्तर था। खेत दान में पाने वाला व्यक्ति उसका स्वामी हो जाता था, किन्तु गॉंव से केवल मालगुजारी प्राप्त करता था, उसका स्वामी नही होता था। भूमि की विक्री का भी उल्लेख अर्थशास्त्र एवं बौद्ध ग्रन्थो में मिलता हैं। भूमिदान का प्रथम अभिलेखीय प्रमाण पहली शताब्दी के सातवाहन अभिलेख में मिलता हैं। पॉंचवी शताब्दी से राजस्व के साधनों के साथ ही ग्रहीता को आन्तरिक सुरक्षा का उत्तरदायित्व भीं मिलने लगा। गुप्त काल के प्रारम्भिक दिनों में सामन्त को सम्राट की अनुमति से ही भूमिदान का अधिकार था, किन्तु छठीं शताब्दी में कुमारामात्य महाराज नंदन जैसे सामन्त भी स्वतंत्र रुप से भूमिदान करने लगे।

इससे प्रतीत होता है कि अब सामन्त अपनी भूमि के शासक हो गये। वे अब सम्राट को उपहार आदि देते थे। ये सामन्त समय-समय पर सम्राट को सैनिक सहायता भी देते थे।

कृषि व्यवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष कृषि एवं कृषि तकनीक है। आरम्भिक काल से लेकर पूर्व वैदिक युग तक कृषि कार्य सरल अवस्था में ही था। वैदिक युग में भूमि को हल से जोता जाता था जबकि पहले कुदाली का ही प्रयोग था। उत्तर वैदिक युग में लोहे के फाल वाले हलों का वर्णन मिलता हैं। ये हल अवश्य ही बड़े रहें होगें क्योंकि इन्हें छह, आठ या बारह बैल खींचते। अन्न पक जाने पर हँसियां (दातृ, सृणि) से काटा जाता था। फिर गट्ठर (वर्ष) बॉंधं कर खलिहान (खल) लाया जाता था वहॉं उसे मंडित कर के चलनी (तिउत) और सूप (शूर्प) से ओसाया जाता था। अन्न की नाप करने वाला बर्तन 'अर्दर' कहा जाता था। वर्षो के अतिरिक्त कुओं और नहरों से सिंचाई करते थे। कुंयें से पानी निकालने के लिए चक्र का प्रयोग होता था जिसमें कोष, बरत्रा और अश्मचाक्र का उपयोग किया

जाता था। नाली द्वारा पानी खेत तक जाता था। हन्द (पोखर) कुल्या (नहर) द्वारा भी सिंचाई होती थीं। कीड़ो, चिड़ियों, टिड्डियो आदि से फसल की सुरक्षा के उपाय किये जाते थे। फसल की उपज बढ़ाने एंव सुरक्षा के लिये इन्द्र, पूषन् आदि देवताओं की प्रार्थना की जाती थीं। तन्त्र मन्त्र का भीं प्रयोग होता था। गोबर का उपयोग उर्वरक के रुप मे किया जाता था। आरम्भ मे परिवार के लोग ही खेती करते थे, किन्तु बाद में इसके लिए शूद्रों का उपयोग किया जाने लगा। इसी प्रकार वैदिक युग में कृषि तथा पशुपालन केवल वैश्यों का कार्य था, ब्राम्हणों एवं क्षत्रियों का नही। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल तक आर्य कृषि के सभी पक्षों से पूर्णतः परिचित हो गये थे। ऋग्वेद में अन्न के लिये केवल दो शब्द मिलते हैं- यव और धान्य। यजुर्ववेद के अनुसार जौ जाड़े में बोया जाता था और ग्रीष्म में काटा जाता था, चावल वर्षा में बोया जाता था। अथर्ववेद में जौ, ब्रीहि, चावल, तिल, उड़द, ईख तथा श्यामाक का उल्लेख हैं। गेहूँ का उल्लेख ऋग्वेद में नही है, किन्तु अन्य सभी संहिताओ मे है। यजुर्वेद में चावल के पाँच प्रकारों का उल्लेख हैं। दालों में उड़द, मूंग और मसूर का वर्णन है। तिल और सरसों का भी उल्लेख हैं।

600 ई.पू. तक कृषि के सभी पक्षों से विविध धार्मिक अनुष्ठान जुड़ गये थे। सूत्र साहित्य में हल चलाने बीज बोने तथा सीता की पूजा के लिये अलग-अलग विधान बताये गये हैं। क्षेत्र पति को विशेष यज्ञ करना पड़ता था। अन्न पकने पर नवस्म्येष्टि यज्ञ का विधान हैं। पाणिनी ने खेत की नाप के लिए 'प्रस्थं' का प्रयोग किया हैं। अर्थशास्त्र एवं प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में 'ग्राम भोजक', 'ग्रामिक', और "ग्रामीण" शब्द मिलते हैं। ग्रामभोजक गाँव का स्वामी नही था, वह केवल स्वामी की ओर से राजस्व प्राप्त करता था। सूत्र ग्रन्थों मं दो प्रकार के जौं, पाँच प्रकार के चावल, निवार, प्रियंगु,श्यामाक ,उडद,मूंग,कुत्थी, पीपल, काली-मिर्च, हींग, तिल और सरसों का विवरण हैं। बौद्ध ग्रन्थों में कोदों और चीन का भी उल्लेख हैं। दालों में चना, हरेणु, मसूर, मटर और अरहर का विवरण हैं। अष्टाध्यायी के अनुसार तीन फसलें बोई जाती थीं- एक बसन्त ऋतु में जिसे बासन्तक कहा जाता था, दूसरी ग्रीष्म ऋतु में जिसे ग्रैष्मक कहा जाता था; तीसरी आश्विन में जिसे आश्वयुजक कहा जाता था।

मौर्य काल मे चावल की दो नई किस्मों-दारक और वरक का उल्लेख मिलता हैं। पतंजलि ने एक तृण् धान्य गवीधुक् की चर्चा की हैं। दालों में रजमाष का भी प्रयोग होने लगा। कई प्रकार के फलो,

सब्जियो एवं मसालों का उल्लेख प्राप्त होता है। रामायण में चने का भी उल्लेख है। कौटिल्य ने कृषि योग्य भूमि के विस्तार के साथ ही विभिन्न प्रकार की खादो के प्रयोग पर बल दिया है जिससे सभी फसले अच्छी उपज दे सके। कौटिल्य ने तीन फसलो का विधान बताया हैं। चरक संहिता और शुश्रुत संहिता मे कुछ नवीन फसलें मिलती हैं। चरक संहिता में अच्छे चावल के पन्द्रह प्रकार बताये गये है, और सुश्रत संहिता में गेंहू की दो नई किस्में मधूलिका एवं नन्दीमुख का उल्लेख हैं। कुषाण काल में कपास, ईख, अलसी और सन की खेती व्यापक स्तर पर होती थी।

इस काल में दुर्भिक्षों का विवरण भी मिलता है जिसमें लोग एक दूसरे का अन्न लूट लेते थे। सभी भिक्षुओं को भोजन नही दे पाते थे तथा पशुओ का मांस खाने लगते थे। कौटिल्य ने लिखा है कि दुर्भिक्ष में राजा को भूराजस्व नहीं लेना चाहिए तथा प्रजा की सहायता करनी चाहिए। दुर्भिक्ष में लोग अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र चले जाते थे।

इस काल (600 ई.पू. से 200 ई.) में सिंचाई के लिये व्यापक प्रबन्ध किये गये थे। सिंचाई कुओं, तालाबों, नहरों से की जाती थी। इस प्रकार की व्यवस्था राजा के द्वारा, सहकारिता द्वारा एवं व्यक्तिगत स्तर पर भी की जाती थी। रामायण और महाभारत के अनुसार तालाब और नहरों का निर्माण राजा का कर्तव्य था। कौटिल्य ने सिंचाई के अनेक साधनों का विवेचन किया हैं। कनिष्क द्वितीय के आरा अभिलेख में बताया गया है कि एक व्यक्ति ने जनसाधारण के लिये कुआँ बनवाया था जिसके लिये राजा ने एक लाख सिक्कों का दान दिया था।

गुप्त काल (300 ई. से 600 ई.) में कृषि की व्यवस्था में अत्यधिक प्रगति दिखाई पड़ती हैं। गुप्त काल शान्ति और सुव्यवस्था का काल माना गया हैं। अतः कृषि का भी पर्याप्त विस्तार हुआ। इस युग में भी बराहमिहिर ने तीन फसलों का उल्लेख किया हैं। अमर कोश एवं इत्सिग के विवरण से इस काल की सभी फसलों का विवरण मिलता हैं। चावल की एक किस्म साठ दिनों में ही तैयार हो जाती थी। मगध में होने वाला चावल अत्यंत सुगन्धित होता था। अमरकोश में क्षेत्र का वर्गीकरण गेहूँ, चावल, जौ और तिल की उपज के आधार पर किया गया हैं। अष्टांग संग्रह में चावल के चालीस प्रकारों का विवरण है। कलमशालि मुख्यतः बंगाल मे उत्पन्न होता था और इसकी पौध लगाई जाती थी। कपास

सौराष्ट्र और कठियावाड़ में होती थी।

खेती की उपेक्षा अक्षम्य थी, अतः यदि कोई व्यक्ति कही चला जाता था, तो अन्य व्यक्ति उसकी भूमि मे खेती कर सकता था, किन्तु स्वामी के वापस आने पर खेत लौटाना पड़ता था। इस काल में परती एवं जंगल की भूमि पर भी खेती होने लगी थी और इस पर राजस्व की मात्रा कम होती थी। खेती के महत्व को देखते हुए फसल एवं कृषि उपकरणों को हानि पहुँचाने वालो पर कड़े दण्ड का विधान था। इस काल में अधितर लोगों के पास छोटे-छोटे भू-खण्ड थे। जिन पर वे स्वयं खेती करते थें, किन्तु जिनके पास विशाल भूखण्ड थे वे मजदूरों का उपयोग करते थे या बटाई पर खेती करवाते थे। इसीलिये इस समय की स्मृतियों मे मजदूरी की दरे निश्चित की गयी तथा बटाई की विधियों का विवेचन किया गया। बृहस्पति के अनुसार कुछ भागो में सामूहिक खेती भी होती थी। नारद और बृहस्पति दोनों का मत है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी भूमि उसके पुत्रों में बँाट दी जाती थी। इस प्रकार व्यक्तिगत भूमि छोटी होती गई और मजदूरी कम। इस काल में भी अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओलों, भूचालो, तथा हानि पहुंचाने वाले अन्य स्रोतों का वर्णन बराहमिहिर ने किया हैं। सिंचाई का भी विस्तार से विवरण मिलता हैं। उत्तरी भारत में मानसून तथा नदियों से पर्याप्त जल मिल जाता था, किन्तु अन्य भागों में राजाओं और जनता ने भी तालाब और कुयें खुदवाया। नारदस्मृति में नालियों और बांधों का उल्लेख हैं। इसी काल में स्कन्दगुप्त ने सुदर्शन झील की मरम्मत करवाई थी। अमरकोश के अनुसार नदियों से नहरें निकाली गई थीं। राज्य दंट्रा नहरों, तालाबों और कुओं को हानि पहँचाने वालों को दण्ड दिया जाता था।

हमारे अध्ययन काल में भू-राजस्व का विशेष स्थान हैं। आर्यों के आगमन के पूर्व भू-राजस्व या किसी कर का प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। अनुमान है कि हड़प्पा तथा उसकी समकालीन एवं उसके बाद की आर्येतर संस्कृतियो में जो मूलतः नगरीय एवं सुव्यवस्थित थीं उनमें कर की प्रथा अवश्य रही होगी क्योंकि बिना कर के कोई भी शासकीय व्यवस्था संभव नही हैं। ऋग्वेदिक काल में राजा कबीले का प्रमुख था, कबीले की रक्षा कर तथा दस्युओं या असुरो से युद्ध करता था। अतः कबीले के लोग स्वेक्षा से 'बलि' देते थे। उत्तर वैदिक काल में राजतंत्र सुव्यवस्थित हो जाने से 'बलि'अनिवार्य कर हो गया। अथर्ववेद में

'शुल्क' का भी उल्लेख हैं। ब्राहमणों से कर नहीं लिया जाता था। कर देने वाले किसान, पशुपालक, शिल्पी एवं व्यापारी थे। धर्मसूत्रो से ज्ञात होता है कि राजा केवल वैध कर ले सकता था। यह कर उपज का छठा भाग था। गौतम ने तीन दरों का निर्देश दिया हैं- 1/6, 1/8 एवंम 1/10। टीकाकार हरदत्त के अनुसार यह अन्तर भूमि की उपज के आधार पर किया गया था।

अर्थशास्त्र में भू-राजस्व पद्धति का विस्तार में वर्णन मिलता हैं। मौर्य काल में समूचे गाँव पर भी कर लगता था जिसे 'पिण्डकतर' कहा जाता था। कौटिल्य का मत था कि राजा को उतना ही कर लेना चाहिए जिसे प्रजा सरलता से दे सके। कौटिल्य ने भी उपज को कर का आधार माना है तथा नवीन भूमि को तब तक कर से मुक्त माना है जब तक लाभ लागत का दो गुना न हो जाए। कौटिल्य ने 'बलि'का भी समर्थन किया है। मनुस्मृति में 1/6, 1/8,1/12 भाग भू-राजस्व के रुप में माना गया हैं। अशोक ने बुद्ध की जन्म भूमि पर 1/8 भाग ही कर लगाया था। महाभारत तथा मनुस्मृति की टीकाओं से स्पष्ट होता है कि भू-राजस्व मूलधन के लाभ पर लगना था। अर्थशास्त्र एवं महाभारत के अनुसार दुर्मिक्ष के समय भू-राजस्व नही लेना चाहिए। रुद्रदामन के जूनागढ़ शिला लेख में (150 ई.) में तीन करो-'कर', 'विष्टि' और 'प्रणंय'- का उल्लेख है जिन्हें कष्टदायी माना गया है। अर्थशास्त्र में ही एक अन्य कर 'हिरण्य' का उल्लेख हैं। मेगस्थनीज के अनुसार विभिन्न पशुओ पर भीं कर लगता था। इसके अतिरिक्त जल एवं हल पर भी कर लेने कर विधान था। आपात काल में कर में वृद्धि भीं हो जाती थी। इससे सिद्ध होता है कि लगभग 300 ई. तक कर की प्रथा बहुत कठोर नहीं थी तथा सभी से समान प्रणाली के आधार पर कर लिया जाता था। केवल मौर्य काल मे करों की मात्रा अधिक प्रतीत होती हैं। संभवतः युद्धों एवं अधिकारियों की अधिकता के कारण ऐसा करना आवश्यक था। किन्तु ब्राहम्णों एवं धार्मिक संस्थाओं को दान में दी हुई भूमि पर कोई कर नही था।

गुप्त काल में विधि वेत्ताओ ने भी उपयुक्त कर का ही अनुमोदन किया हैं। कामन्दक एवं कालिदास की रचनाओं से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता हैं। बृहस्पति ने भी उपज की मात्रा को कर का आधार माना है।

इस काल में कर के लिए 'भाग', 'भोग', और 'कर' शंब्दो के प्रयोग किये गये हैं। आक्रमण के

समय प्रजा को राजा के लिए खाद्य सामग्री का प्रबन्ध करना पड़ता था। इसे 'अवल्गक' कहा गया हैं। इस काल के अभिलेखो मे 'उपरिकर' एवं 'उद्रंग' का भी उल्लेख है जो अतिरिक्त कर थें। 'हिरण्य', 'शुल्क', 'वात-भूत', 'हलिलाकर', 'क्लृप्त', 'उपक्लृप्त' आदि करों का भी विधान था, किन्तु इनका निश्चित अर्थ स्पष्ट नहीं हैं।

भू-राजस्व एवं अन्य करों के पक्ष में दो सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत किये गये हैं,प्रथम राजा को प्रजा की सुरक्षा करना है। द्वितीय, राजा भूपति हैं। सुरक्षा का आधार आरम्भ में अवश्य था, किन्तु बाद में भूपति का विचार ही अधिक प्रभाव वाला सिद्ध हुआ। गुप्त काल की रचनाओं में राजा को पृथ्वी के भोक्ता के रुप में दर्शाया गया हैं। इस आधार पर उसे स्वेच्छिक रुप से कर लगाने का अधिकार मिल गया। कात्यायन ने इसे शास्त्रीय मान्यता भी प्रदान की। इसी प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखने के लिए विभिन्न शास्त्रों में स्पष्ट निर्देश दिये गये कि प्रजा के सामर्थ्य के अनुसार ही कर लगाना चाहिए एव शोषण की प्रवृत्ति से बचना चाहिए। यद्यपि 600 ई.पू. तक कर के सिद्धान्त एवं कर की दरों मे संतोषजनक तालमेल दिखाई पड़ता हैं। किन्तु इसके पश्चात् अत्यधिक कर लगाये गये। संकट काल में धन इकट्ठा करने के लिये राजा मनमाने ढंग से कर लगा सकता था। इस काल से वाह्य एवं आन्तरिक युद्धों में वृद्धि होती रही। भूमि को दान में देने की प्रवृत्ति का विकास हुआ जो गुप्त काल तक चरम सीमा पर पहुंच गयी। ऐसी भूमि पर प्रायः कर नही लिया जाता था। इस स्थिति में साधारण जनों को ही कर का बोझ उठाना पड़ना था। अर्थशास्त्र में असामान्य परिस्थितियों में धन इकट्ठा करने के लिये विभिन्न प्रकार के अतिरिक्त करों का प्रावधान किया गया है। इनमें मुख्य रुप से बलात् 'प्रणय' वसूल करना और मन्दिरों का कोष जब्त कर लेना समिलित हैं। किन्तु ये उपाय मौर्योत्तर काल में प्रचलित नही थे। शांन्तिपर्व में तपस्वियों तथा ब्राम्हणों की सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियों के अधिग्रहण का पूरा अधिकार दिया गया है। किन्तु गुप्त काल में ऐसा अधिकार नही दिया गया हैं। केवल करो की दर में वृद्धि करने का निर्देश हैं।

मुख्य कर भू-राजस्व ही था जो आरम्भ में छठा भाग था पर मौर्य काल में इसे चौथा भाग बना दिया गया था। भाग और 'बलि' मुख्यकर थे जो संभवतः पर्यायवाची थे। केवल रुद्रदामन के जूनागढ़

अभिलेख में इन दोनों में अन्तर किया गया हैं। मौर्य काल में 'हिरण्य' कर भी था जो सम्भवतः नकद राशि में वसूल किया जाता था। गुप्त काल के 'उद्रंग' एवं 'उपरिकर' भी सम्भंवतः अतिरिक्त कर थे। गुप्त काल में ही 'मेय','दित्यं','धान्य' का उल्लेख मिलता हैं। इनका सम्बन्ध भी उपज से ही प्रतीत होता हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त काल में सिंचाई कर नहीं लिया जाता था। सम्भवतः इस काल में 'निजी' साधनों में वृद्धि हो गई थीं। पर कुल मिलाकर कृषकों पर करों का दबाव निरन्तर पड़ता रहा।

कृषक समाज भारतीय समाज का सदैव से अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग रहा हैं। कृषि व्यवस्था ही यहाँ की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार थी। कृषक समाज में एक ओर बड़े-बड़े भूखंण्डों के स्वामी है, दूसरी ओर उनके खेतों में कार्य करने वाले कृषि मजदूर हैं। इनके मध्य में छोटे-छोटे किसान है जो या तो स्वयं खेती करते है या वे भी मजदूरों का प्रयोग करते हैं। आरम्भ में आर्य कबीले जो कृषि से सम्बन्धित थे स्वयं खेती करते थे। संभवतः उस समय मजदूरों का प्रयोग भी नही किया जाता था। किन्तु उत्तर वैदिक काल से आर्यो के जीवन में स्थायित्व आया, वर्णों का स्पष्ट विभाजन हुआ तथा कृषि कार्यों में वृद्धि होने लगी। ऋग्वेद में अश्विन एवं मनु और अथर्ववेद में पृथुवैन्य को कृषि कर्म से सम्बन्धित किया गया हैं। वेदों में कृषि से सम्बन्धित श्रम जीवियों का भी उल्लेख है- कीनास, कृषिवल, गोप, गोपाल, अविपाल, अजापाल, पशुप, धान्यकृत, उपलप्रक्षणी, बप आदि। एक स्थान पर कृषि का महत्व बताते हुये कहा गया हैं कि खेती से पशु, सम्पत्ति, आदि सभी मिल सकते हैं। बड़े-बड़े भूखण्ड धंनी व्यक्तियों के अधिकार में थे जिनपर दास और दासियॉ कृषि कर्म करते थे। तत्कालीन रचनाओं से प्रतीत होता है कि वैश्य वर्ण पशुपालन एवं कृषि से सम्बन्धित थे। उनके खेतो मे दासियों भी श्रम करती थी। चरवाहे पशुओं को चराने के लिये चारागाहों में ले जाते थे। पशुओं की सुरक्षा के लिये चरवाहा पूरी तरह उत्तरदायी होता था।

इस बात के निश्चित प्रमाण है कि बौद्ध युग तक उच्च वर्णो के पास भीं कृषि योग्य भूमि हो गई थी। वैश्यों मे धनी व्यक्ति नगरों में रहने लगे थे और मजदूरों से खेती करवाते थें या बटाई पर अथवा काश्तपर अपनी भूमि भूमिहीनों को देते थे। बौद्ध ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि ऐसे ब्राम्हण भी कृषक थे जिनके पास बहुत अधिक संख्या में हल और बैल होते थे। किन्तु निर्धन ब्राम्हण भी थे जिनके पास एक ही बैल था। तत्कालीन समाज में कृषि श्रमिको एवं सेवकों की संख्या ही ज्यादा थी। यद्यपि धर्मसूत्रो में

विभिन्न वर्णो के भिन्न-भिन्न कार्य बताये गये है किन्तु वास्तविक स्थिति इससे भिन्न थी। पाणिनि ने एक जनपद का उल्लेख किया जिसके ब्राम्हण का प्रयोग करते थे, गौतम धर्मसूत्र में ब्रम्हणों को सेवकों द्वारा कृषि एवं व्यापार कराने की अनुमति दी गई हैं। भूखे ब्राम्हण को शूद्र कर्म करने की अनुमति हैं। दशब्राम्हण जातक से सिद्ध होता हैं कि कुछ ब्राम्हण गाड़ी चलाने वाले, कुछ वैद्य, कुछ कर वसूलने वाले, कुछ भूमि खोदने वाले, कुछ व्यापारियों, कुछ किसान, कुछ शिकारी कुछ नीचे स्तर के राज्य कर्मचारी थे। जातकों से ही ज्ञात होता है कि क्षत्रिय भी सभी प्रकार के कर्म करते थे। कुछ व्यावसाय करते थें, कुछ कुम्हार, माली, रसोइये का कार्य करते थे। वैश्यों की स्थिति मे और गिरावट आई क्योंकि उनका शूद्रों से सम्पर्क बढ़ रहा था।

विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थो से सिद्ध होता है कि कृषि योग्य अधिकतर भूमि कुछ ही लोगों के पास थी। ज्यादातर लोग या तो छोटे किसान थे या मजदूर या बटाई पर खेती करने वाले। श्रमिक शूद्र होते थे। उन्हें अपने स्वामी द्वारा वेतन अन्न या धन के रुप में मिलता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि कर्मकारों को अन्न के रुप में वेतन मिलता था। यदि वेतन निश्चित नहीं रहता था तो उन्हे उपज का दसवां भाग मिलता था। वे प्रातः से सन्ध्या तक खेतों पर कार्य करते थे। पर बड़ी कठिनाई से अपने परिवार का पालन कर पाते थे।

पाणिनि ने जोतने वाले, बोने वाले, काटने, माड़ने आदि का उल्लेख किया है जिसे श्रमिक पूरा करते थे। पतंजलि ने स्वामियों के लिये 'अर्थ' एवं 'अवक्रेता' का प्रयोग किया हैं।

कालावधि के आधार पर श्रमिकों का वर्गीकरण किया गया था। यघपि महाकाव्यों एवं अन्य ग्रन्थों में राजा को श्रमिको के हित के लिये उपदेश दिये गये हैं किन्तु जन साहित्य से उनकी स्थिति दयनीय ही प्रतीत होती है। कभी-कभी उनकी स्थिति संतोषजनक प्रतीत होती है। पर यहअपवाद ही है। कुछ स्मृतियों मे श्रमिकों को भोजन एवं वस्त्र देने की संस्तुति की गई है। अधिकतर इतिहासकारो का मत हैकि पूर्व मध्य युग में श्रमिको की स्थिति में सुधार हुआ। देवण्ण भट्ट ने माना है कि श्रमिक को दसवॉ भाग तब मिलना चाहिए जब फसल विना अधिक श्रम के हो। श्रमिकक् को भोजन और कपड़ा भी मिलना चाहिए। यदि भेजन और कपड़ा न मिले ता श्रमिक को उपज का तीसरा भाग मिलना चाहिए। प्राय।

श्रमिको को कुछ दिनो का अवकाश मिलना था। असके अतिरिक्त अस्वस्थता एवं निवृत्ति के भत्ते भी दिये जाते थे।

जैसा पहले दिखाया गया है कृषि श्रमिक ज्यादातर शूद्र ही थे और उनकी स्थिति बहुत अच्छी नही थी।किन्तु अन्य वर्णो के निर्धन व्यक्ति भी दूसरो के लिये श्रम करते थे। ऋण से मुक्ति पाने के लिये उन्हे दासता स्वीकार करनी पडती थी। कभी-कभी उन्हे बेगार भी करना पड़ता था। बड़े भूखण्डो के स्वामी ब्राम्हण,क्षत्रिय,एवं वैश्य, होते थे । वैश्य आरम्भ से ही व्यापार से सम्बन्धित हो गये थे। वैदिक युग से ही भारत मे व्यापार का विकास होने लगा था जो बौद्व युग,मौर्यकाल एवं गुप्तकाल में निरन्तर बढ़ता ही गया। पर ज्यादातर वैश्य छोटे व्यापारी थे। शूद्रों ने अनेको प्रकार के शिल्प एवं अन्य जातीय कर्मो को अपना लिया था। इन सब मे अधिकतर संख्या श्रमिको ,छोटे किसानो,बटाईपर, कृषि कर्म करे वालो,एवं छोटे व्यापारियों तथा जातिगत पेशा करने वालों की थी। शूद्र भी बड़े कृषको की भूमि आधी उपज पर कर्षक थे। परवर्ती स्मृतियो मे सेवा के अतिरिक्त उन्हें कृषि,व्यापार एवं शिल्प करने का अधिकार दिया गया। आर्य शूद्रों को म्लेच्छों से पृथक मान कर उन्हे दान एव यज्ञ का अधिकार भी दिया गया। इस प्रकार दासता की प्रथा में ह्रास हुआ एवं शूद्रो की स्थिति मे पर्याप्त सुधार हुआ ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बौद्व युग से ही सभी वर्णो के निर्धन व्यक्ति कृषि,व्यापार,शिल्प एवं अन्य पेशों से सम्बन्धित हो गये थे। शासको ,अधिकारियों,पुरोहितो ,बड़े व्यापारियो एवं बडे कृषको के अतिरिक्त अन्य सभी की आर्थिक स्थिति भयावह थी। बाह्य एवं आन्तरिक आक्रमणों,अत्यधिक करों ,न्यूनतम वेतन,बेगार एवं दासता के कारण निम्न एव निम्न-मध्य वर्ग का जीवन सामान्यत् दु।ख पूर्ण था। मौर्येत्तर काल में अधिकारियो के आत्याचार भी बढ़ गये थे। कुछ शासको ने इन प्रवृत्तियो का रोकने का प्रयास अवश्य किया ,पर सामान्य जीवन-स्तर बहुत संतोष जनक नही था। गुप्त काल तक देश अवश्य समृद्ध हुआ पर कृषको एव कृषि श्रमिको का जीवन कष्टपूर्ण ही था।

संकेत-सारणी

अमर	अमरकोष, नामालिंगानुशासनम्, अमरसिंह कृत
अनु0	अनुवाद, अनुवादक
अ0 शा0	अर्थ शास्त्र
आ0 ओ0	आर्काइव आरियन्टल्नी
आ0 ध0 सू0	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आ0 श्रौ0 सू0	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आश्व0 गृ0 सू0	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आ0 स0 इ0	आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया।
आ0 स0 रि0	एनुअल रिपोर्टस ऑफ द आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया
आ0 स0 वे0 इं0	एनुअल रिपोर्टस ऑफ द आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया।
इं0 एं0	इन्डियन एन्टीक्वेरी
इं0 क0	इन्डियन कल्चर
इन्डियन हिस्टोरियोग्राफी	यू0 एन0 घोषाल, विगनिग्स ऑफ इन्डियन हिस्टोरियोग्राफी एंड अदर एसेज
इं0 हि0 क्वा0	इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली
इपि0 इं0/ ए0 इं0	इपिग्राफिया इंडिका
ऐत0 ब्रा0/ ऐ0 ब्रा0	ऐतरेय ब्राहम्ण
ऋ0	ऋग्वेद
ऋतु ऋतुसंहार,	कालिदास कृत
क0 उ0	काठक उपनिषद्
का0 गृ0 स0	काठक गृह्यसूत्र
का0 श्रौ0 स्0	काठक श्रौतसूत्र
का0 सं0	काठक संहिता

कात्या0/ कात्यायन	कात्यायन स्मृति
कामन्दक	कामन्दक नीतिसार
कौ0 अ0	कौटिल्य अर्थशास्त्र
कुमार	कुमारसम्भव
कॉ0 इं0 इं0	कॉर्पस इंसाक्रिप्शनम इन्डिकेरम
खादिर गृ0 सू0	खादिर गृह्यसूत्र
गरुण पु0	गरुण पुराण
गो0गृ0 सू0	गोभिल गृह्यसूत्र
गौ0गृ0 सू0	गौतम गृह्यसूत्र
गौ0 गृ0 सू0	गौतम धर्मसूत्र
गृहस्थ	गृहस्थ रत्नाकर
गा0 ओ0 सी0	गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज
छां0 उ0	छांदोग्य उपनिषद्
ज0 इ0 सो0 हि0 ओ0	जर्नल ऑफ द इकॅानॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री ऑफ द ओरिएन्ट
ज0 ए0	जर्नल एसियाटिक
ज0 ए0 सो0 बं0	जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी, बंगाल
ज0 ओ0 रि0 म0	जर्नल ऑफ ओरियन्टल रिसर्च, मद्रास
ज0 न्यू0 सो0 इं0	जर्नल ऑफ द न्यूमिसमैटिक सोसाइटी ऑफ इन्डिया
ज0 पा0 टे0 सा0	जर्नल ऑफ पालिटेक्स्ट सोसाइटी
ज0 बि0 ओ0 रि0 सो0	जर्नल ऑफ द बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
ज0 बॉ0 ब्रां0 रा0 ए0 सो0	जर्नल ऑफ द बाम्बे ब्रॉंच ऑफ द रॉयल एशिपाटिक सोसाइटी
ज0 बि0 रि0 सो0	जर्नल ऑफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी
ज0 यू0 बा0	जर्नल ऑफ द यूनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे
ज0 रा0 ए0 सो0	जर्नल ऑफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड

	आयर लैड
जा०	जातक साहित्य
जा० उ०	जाबाल उपनिषद्
जै० सू०	जैमिनी सूत्र
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
थेरी०	थेरी गाथा
दक्ष०	दक्ष स्मृति
दिव्या	दिव्यावदान
दी० नि०	दीघ निकाय
देवल०	देवल स्मृति
नारद	नारद स्मृति
पं० ब्रा०	पंचविश ब्राहम्ण
पराशर	पराशर स्मृति
पा० गृ० सू०	पारस्कर गृहासूत्र
प्रश्नों०	प्रश्नोपनिषद्
पा० टे० सो०	पालिटेक्स्ट सोसाइटी
बौ० ध० सू०	बौधायन धर्मसूत्र
बौ० श्रौ० सू०	बौधायन श्रौत सूत्र
ब्र० पु०	बहाण्ड पुराण
वृ० उ०	वृहदारण्यक उपनिषद्
वृहस्पति	वृहस्पति स्मृति
भा० गृ० सू०	भारद्वाज गृहासूत्र

मनु0	मनुस्मृति
म0 पु0	मत्स्य पुराण
महा0	महाभारत
मिता0	मिताक्षरा
मु0 उ0	मुण्डक उपनिषंद्
मै0 सं0	मैत्रायिणी संहिता
मालविका	मालविकाग्निमित्र
मिलिन्द	मिलिन्दपन्हो
याज्ञ0	याज्ञवल्क्य स्मृति
व0 धं0 सू0	वसिष्ठ धर्मसूत्र
वा0 सं0	वाजसनेपी संहिता
वायु0 पु0	वायु पुराण
विष्णु0 पु0	विष्णु पुराण
वी0 मि0/वीर	मित्रोदय
व्यास	व्यासस्मृति
विष्णु	विष्णुस्मृति
वसिष्ठ	वसिष्ठ धर्मशास्त्र
रघु0	रघुवंश
लूडर्सलिस्ट/लूडर्स	लिस्ट ऑफ ब्राही इंसक्रिप्शन्स
शंख	शंख स्मृति
श0 ब्रा0	शतपथ ब्राहम्ण
शा0 प0	शान्ति पर्व
शाकुन्तल	अभिज्ञान शाकुन्तल
शा0 श्रौ0 सू0	शांखायन श्रौत सूत्र

शुक्र0	शुक्रनीतिसार
श्वे0 उप0	श्वेताश्व उपनिषद्
संपा	संपादक
से0 बु0 ई0	सेक्रड बुक ऑफ द ईस्ट
सेल0 इन्स0 सी0 डी0 सरकार,	सेलेक्टेड इन्सक्रिप्शन्स बियरिंग ऑफ इन्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन
सु0 र0 स0	सुभाषित रत्न संदोह
स्मृ0 चं0	स्मृति चन्द्रिका
ह0 ओ0 सी0	हर्वर्ड ओटिएन्टल सिरीज
हि0 ध0 शा0	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पी0 वी0 काणे कृत
हि0 रे0 सि0 यू. एन.	घोषाल कृत, कन्ट्रीव्युशंन्स इन दहिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम
हिर0 गृ0 सू0	हिरण्य गृह्य सूत्र

सहायक ग्रन्थों की संक्षिप्त सूची

1. संस्कृति पालि और प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थः

अगुत्तर निकायः — संपादक, आर0 मोरिस और ई0 हार्डी, लंदन, 1883-1900.

अग्नि पुराणः — संपादक, राजेन्द्रलाल मित्र, बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता, 1873-79, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1900.

अथर्ववेदः — संपादक, आर0 रौथ और डब्ल्यू0 डी0 हिटने, बर्लिन, 1856; संपादक, श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, 1938.

अपरार्कः — याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1903-4.

अमरसिंहः — अमरकोश, क्षीरस्वामी की टीका सहित, ओरएंटल बुक एजेंसी, पूना; माहेश्वरी व्याख्या, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, 1907.

आचारंग सूत्रः — अनुवाद, जेकोबी, 22 आक्सफोर्ड, 1884.

आपतम्ब गृहासूत्रः — सुदर्शनाचार्य की टीका सहित, मैसूर गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी सीरीज।

आपतम्ब धर्मसूत्रः — हरदत्त की टीका सहित, चौखंभा संस्कृत सीरीज वाराणसी।

आश्वलायन गृहासूत्रः — नारायण की टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1894.

आश्वलायन श्रौतसूत्रः — बिब्लियोथिका इंडिका, 1879.

उपनिषद्ः — उपनिषद् निर्णयसागर प्रेस, बम्बई; गीताप्रेस गोरखपुर। बृहदारण्यक उपनिषद् छांदोग्य उपनिषद्, ईशावास्य उपनिषद्, प्रश्न उपनिषद् ऐतरेय उपनिषद्, केन उपनिषद् कठ उपनिषद्,

श्वेताश्व उपनिषद् तैत्तिरीय उपनिषद्।

ऐतरेय आरण्यक: संपादक कीथ आक्फोर्ड, 1909.

ऐतरेय ब्राह्मण: षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति सहित त्रावणकोर विश्विवद्यालय संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम।

ऋग्वेद: सायण भाष्य सहित, संपादक, एफ0 मैक्समूलर, 1890-92; 5 भाग, वैदिक संशोधन मंडल, पूना, 1933-51.

कल्हण: राजतरंगिणी एम0 ए0 स्टीन, दो भाग, 1900, वाराणसी, 1961; आर0 ए0 पंडित, 1935.

काठकगृहा: संपादक डॉ0 कलन्द, 1925.

कात्यायन स्मृति: संपादक नारायणचन्द्र वंद्योपाध्याय, कलकत्ता, 1917.

कामन्दक नीतिसार: संपादक, आर0 मित्र, बिब्लियोथिका इंडिका, 1884.

कालिदास: कुमारसंभव, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1927.

ऋतुसंहार, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1922.

रघुवंश, कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् चौखंभा संस्कृत सीरीज।

मेघदूत, कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी

मालविकाग्निमित्र, बम्बई संस्कृत सीरीज, 1889.

विक्रमोर्वशीय, बम्बई संस्कृत सीरीज, 1901.

कूर्म पुराण: संपादक नीलमणि मुखोपाध्याय, बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता, 1990.

कोटिलीय अर्थशास्त्र: संपादक, आर0 शामशास्त्री, मैसूर, 1909, 1929.

खादिरगृहा: मैसूर गवर्नमेंट ओरिएंटल लाइब्रेरी सीरीज।

गरुड़ पुराणः	खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1906.
गोपीनाथः	संस्कार रत्नमाला, आनन्दकम् प्रेस।
गोभिल गृह्यसूत्रः	बिब्लियोथिका इंडिका सीरीज।
गौतम धर्मसूत्रः	हरदत्त टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, 1910.
गौतम स्मृतिः	सैक्रेड बुक अव दि ईस्ट, आक्सफोर्ड, 1897.
चण्डेश्वरः	गृहस्थ रत्नाकर, बिब्लियोथिका इंडिका।
	कृत्य रत्नाकर, बिब्लियोथिका इंडिका, 1925.
चन्द बरदाईः	पृथ्वीराजरासो संपादक, श्यामसुन्दरदास, वाराणसी, 1904.
जयदेवः	गीत गोविन्द
जातकः	संपादक, फाउसबोल्ल, 1877-97; कैम्ब्रिज, अनुवाद, 1895-1913; हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन।
तैत्तिरीय आरण्यकः	आनन्दश्रम संस्कृत सीरीज, 1926.
तैत्तिरीय ब्राह्मणः	शाम शास्त्री, मैसूर, 1921.
तैत्तिरीय संहिताः	श्रीपाद शर्मा, औधनगर, 1945; कलकत्ता, 1854.
दामोदरगुप्तः	कुटट्नीमतम्, वाराणसी, 1961.
देवण्णभटट्ः	स्मृतिचन्द्रिका, संपादक, एल0 श्रीनिवासचार्य, मैसूर, 1914-21.
देवल स्मृतिः	आनन्दश्रम संस्कृत सीरीज, पूना।
देवी भागवतः	बिब्लियोथिका इंडिका, 1903.
दीघ निकायः	संपादक रीज डेविड्स और ई0 कार्पेन्टर, लंदन, 1890-1911; हिन्दी अनुवाद राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, वाराणसी, 1936.
दीपवंशः	संपादक, ओल्डेनवर्ग, लंदन, 1879.
धम्मपदः	संपादक, राहुल सांकृत्यायन, रंगून, 1937.

नवासाहसांकचरित: संपादक, वामन शास्त्री, बम्बई, 1895.

नारद स्मृति: संपादक, जोली, कलकत्ता, 1885

पतंजलि: महाभाष्य, संपादक, एफ0 कीलहार्न बम्बई।

पद्‌म पुराण: संपादक, बी0 एन0 मांडलिक, 4 भाग, आनन्दश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1893-94.

पराशर स्मृति: बम्बई, 1911.

पाणिनी: अष्टाध्यायी, निर्णयसागर प्रेस, 1929.

बाणभटट: हर्षचरित, अनुवाद, कावेल और टामस, 1897.

कादम्बरी, संपादक, रामचन्द्र काले बम्बई।

बिल्हण: विक्रमांकदेवचरित, बम्बई, 1875.

बृहस्पति स्मृति: बड़ौदा, 1941.

ब्रहा पुराण: गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ादा, 1941.

ब्रहाम्ण्ड पुराण: कलकत्ता, सं0 2009.

बौधायन धर्मसूत्र: आनन्दाश्रय संस्कृत सीरीज।

भविष्य पुराण: वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1912.

भागवत: संपादक धनन्जयदास, चक्रवर्ती और चटर्जी प्रकाशन।

भागवत पुराण: श्रीधर टीका सहित, कलकत्ता।

भोज: समराग्डणसूत्रधार और योगसूत्र, सम्पादक, दुण्डिराज शास्त्री, वाराणसी, 1930.

युक्तिकल्पतरु, कलकत्ता ओरिएंटल, सीरीज, 1917.

मत्स्यपुराण: आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1907

मनुस्मृति: कुल्लूक भट्ट की टीका सहित, बम्बई, 1946.

मेधातिथि की टीका के साथ, कलकत्ता, 1932.

महाभारतः नीलकंठ की टीका सहित पूना, 1929-33; गीताप्रेस, गोरखपुर

मार्कण्डेय पुराणः बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता।

मित्र मिश्रः वीर मित्रोदय, वाराणसी, 1906.

मिलिन्द पन्होः बम्बई, 1940.

याज्ञवल्क्य स्मृतिः संपादक जे0 आर0 घरपुरे, 1926.

यादवप्रकाशः वैजयन्ती, मद्रास।

रामायणः मद्रास, 1933; गीता प्रेस, गोरखपुर।

लक्ष्मीघरः कृत्यकल्पतरु, 11 खंड, बड़ौदा, 1941-53

लिंग पुराणः कलकत्ता 1885.

वराह पुराणः संपादक हृषिकेश शास्त्री, बिब्लियोथिका इंडिका कलकत्ता, 1893.

वराहमिहिरः बृहत् संहिता, वाराणसी, 1895.

वात्स्यायनः कामसूत्र, चौखंभा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

वामन पुराणः वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

वायु पुराणः पूना, 1905.

विज्ञानेश्वरः मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, बम्बई 1905.

विनय पिटकः अनुवाद, रीज डेविड्स, आक्फोर्ड, 1881-85; हिन्दी, राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, 1935.

विश्वरुपः याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, त्रिवेद्रम।

विष्णुः धर्मसूत्रः संपादक, जोली, कलकत्ता, 1881.

विष्णुधर्मोत्तरः वेकटश्वर प्रेस, बम्बई।

विष्णु पुराणः बम्बई, 1889; विल्सन, 5 भाग, लन्दन, 1864-70; गीता प्रेस,

गोरखपुर, सं0 2009.

विष्णु स्मृतिः बीस स्मृतियाँ, बरेली, 1966

व्यास स्मृतिः धर्मशास्त्र संग्रह खंड 2, कलकत्ता, 1876.

शंकराचार्यः शंकर दिग्विजय।

शतपथ ब्राहमणः अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, वाराणसी, संवत् 1994-97.

शुक्रनीतिसारः मद्रास, 1882; अंग्रेजी अनुवाद, बी0 के0 सरकार, इलाहाबाद, 1923.

संयुक्त निपातः सम्पादक, लियोन फियर और मिसेज रीज डेविड्स लंदन, 1884-1904.

सुत्त निपातः सम्पादक, ऐंडरसन और स्मिथ, लन्दन, 1948; राहुल सांकृत्यायन, रंगून, 1937.

सोमदेवः नीतिवाक्यमृत, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला सीरीज, नं0 221.

यशस्तिलक, सम्पादक, शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस।

कथासरितसागर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1960; अंग्रेजी अनुवाद, टानी, 2 भाग, कलकत्ता, 1880.

सोमेश्वरः कीर्तिकौमुदी।

मानसोल्लास, 3 भाग, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बडौदा, 1939.

स्कन्द पुराणः वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

हलायुधः अभिधानरत्नमाला, लन्दन, 1861.

ब्रहामण सर्वस्त्र, कलकत्ता, 1924.

हेमचन्द्रः अभिधानचिन्तामणि, संपादक, हरिगोविन्ददास बेचरदास और मुनि

जिन विजय भावनगर, 1924,1919.

देशीनाममाला, भंडारकर ओरिएटल रिचर्स इंस्टिट्यूट, पूना, 1938.

द्वयाश्रयकाव्य, अभयतिलकमणि की टीका सहित, संपादक, ए0 बी0 कथवटे, दो भाग, बम्बई संस्कृत-प्राकृत सीरीज, 1915,1925.

कुमारपालचरित, पूना, 1926.

लघुवराहनीतिसार, अहमदाबाद, 1906.

तृषस्ठिश्लाकापुरुषचरित, गायकवाड़ आरिएंटल सीरीज, बड़ोदा।

शब्दानुशासन।

हेमाद्रिः चतुर्वर्गचिन्तामणि, बिब्लियोथिका इंडिका, 1878-79.

क्षेमेन्द्रः दशावतारचरित, संपादक, दुर्गाप्रसाद, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

दशोपदेश, पूना, 1923.

समयमातृका।

बोधिसत्वावदानकल्पलता।

(2)मुद्राएँ तथा अभिलेख

एपिग्राफिका इन्डिका.

एपिग्राफिका कर्णाटिका

एलन, जे0 कैटलॉग ऑफ द क्वायन्स ऑफ द गुप्त डाइनेस्टीज एंड ऑफ शशांक क्रिग ऑफ गौड, लन्दन, 1941.

कोनो, एस0, खरोष्ठी इन्सक्रिप्सन, कॉ0 इं0 इं0, 2 भाग-1, 1929। लूडर्स लिस्ट ऑफ ब्राही इन्सक्रिप्शनस (एपिग्राफिका इन्डिका का पूरक, खंड-10)।

फ्लीट जे0 एफ0, इन्सक्रिप्शान्स ऑपं द अर्लीग् गुप्त किंग्स, कॉ0 इं0 इं0,3, लन्दन, 1888।

मार्सल, जे: तक्षशिला

मिराशी, वी0 वी0 इन्सक्रिप्श्न्स ऑफ द कलचूरि-चेदि एरा, कॉ0 इं0 इं0, 4 (दो भागों में), उटकमंड 1955।

व्यूहलर एण्ड वरगेस, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, भाग IV.

सरकार, डी0सी0; सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स बियरिंग ऑन इन्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, 1, कलकत्ता 1942

(3)भारतीयेतर स्त्रोत

गाइलस, एम0 ए0, द ट्रैवेल्स ऑफ फाहियान आर रिकॅार्ड ऑफ बुद्धिस्टिक किंग्ड्मस, कैम्ब्रिज, 1923।

बील, एस0 सि-यु-कि बुद्धिस्ट रिकॅार्डस ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, हान-त्सांग की मूल चीनी भाषा से अनु0, दो खंड, लन्दन, 1906।

मैक्कोन्डल, जे0 डब्ल्यू0 एन्शियेन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, वेस्टमिन्स्टर, 1901।

एन्शियेन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एंड एरियन, कलकत्ता, 1926।

लेगे, जे0 एच0 रिकॅार्ड ऑफ द बुद्धिस्टिक क्रिंगडमस (चीनी भिक्षुक फाहियान का यात्रा-विवरण), ऑक्सफोर्ड, 1886।

वाटर्स, टी0, ऑन यूआन-च्वांग्स ट्रैवेल इन इन्डिका, (सं0) टी0 डब्ल्यू0 रीज डेविड्स तथा एस0 डब्ल्यू0 बुशेल, दो खंड, लन्दन, 1904, 1905।

(4) आधुनिक ग्रन्थ

अग्रवाल, वा0 श0, हर्षचरित- एक सांस्कृतिक अध्ययन (हिन्दी में), पटना, 1953।

इन्डिका एज नोन टू पाणिनि, लखनऊ 1953।

अल्तेकर, अ0 स0, ए हिस्ट्री ऑफ विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इन्डिया, मद्रास, 1927।

---द राष्ट्रकूटाज एंड देअर टाइम्स, पूना 1934।

---स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एन्शियेन्ट इंडिया, बनारस, 1949।

आद्य, जी0 एल0, अर्ली इंडियन इकॅनॉमिक, बम्बई, 1936।

आयंगर, के0 वी0 आर0 आस्पेक्टस ऑफ एन्शियेंट इंडियन इकॅनॉमिक थॉट (मणीन्द्र लेक्चर्स, 1927, वनारस हिंदू विश्वविद्यालय), बनारस, 1934।

-- इंडियन कैमेरलिज्म मद्रास 1941।

-- राजधर्म, मद्रास, 1941।

आयंगर, एस0 के0, स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री, मद्रास, 1928।

--इवॅाल्युशान ऑफ हिंदू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टट्यूशन्स इन साउथ इंडिया, मद्रास, 1931।

इन्डिया इन कालिदास, इलाहाबाद, 1947

हिस्ट्री ऑफ असीरिया, लन्दन, 1923।

काणे, पा0 वा0, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, तीन खंड, पूना, 1930-46।

कोसाम्बी, डी0 डी0, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टली ऑफ इंडियन हिस्ट्री, बम्बई, 1956।

--द कल्चर एंड सिविलिजेशन ऑपं एन्शियेण्ट इंडिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन, लन्दन, 1965।

काल बार्न, आर0 (सं0) फ्यूडलिज्म इन हिस्ट्री, प्रिसटन विश्वविद्यालय प्रेस 1956।

कैम्पबेल, माडर्न इंडिया, लन्दन, 1852।

गुप्त, के0 एम0, लैंड सिस्टम इन साउथ इंडिया, लाहौर, 1933।

गोपाल, एल0 इकॅनॉमिक लाइफ ऑफ नादर्न इंडिया, (लगभग ईस्वी 700-720), बनारस, 1965।

घोषाल, यू0 एन0, हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पॉलिटिकल थ्योरीज, कलकत्ता, 1923।

--एग्रेरियन सिस्टम इन एन्शियेन्ट इंडिया, कलकत्ता, 1930।

--द स्टेट इन एन्शियेन्ट इंडिया, इलाहाबाद, 1928।

प्रकाशं, ओमः फूड एण्ड ड्रिंक्स इन एन्शिएंट इण्डिया, दिल्ली, 1961।

वन्दोपाघ्याय, एन0 सी0, कौटिल्य, कलकत्ता, 1927।

-- डेवलपमेंट ऑफ हिन्दु पॅालिटी एंड पॅालिटिकल थियोरीज, दो खंड, कलकत्ता, 1927-38।

बोस, ए. एन.; सोसल एण्ड रूरल एकोनॅामी ऑफ नार्दन इण्डिया सर. 600 बी0 सी0-- 200 ए0 डी0, कलकत्ता, भाग2, 1970 भाग 2, 1967।

बसु0 जे0 आर0, इन्डिया ऑफ द एज ऑफ द ब्राह्मणाज में उद्घृत, पृ0 16

बसाक, आर0 जी0 हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया कलकत्ता, 1934।

बैडेन-पावेल, बी0 एच0, द लैंड सिस्टम ऑफ ब्रिटिश इंडिया, 1, 1892।

बैशम, ए0 एल0, वण्डर दैट वाज इण्डिया, लन्दन, 1954।

भंडारकर, डी0 आर0 कारमाईकेल लेक्चर्स 1918।

--सम आस्पेक्ट्स ऑफ एन्शियेन्ट हिन्दू पॅालिटी, बनारस 1929।

भट्टाचार्य, एस0 सी0; सम असपेक्टस ऑफ इन्डियन सोसाइटी फ्राम सेकेण्ड सेन्चुरी बी0 सी0 टू फोर्थ सेन्चुरी ए0 डी., कलकत्ता, 1978।

मजुमदार, आर0 सी0, कॉरपोरेट लाइफ इन एन्शियेन्ट इंडिया, द्वितीय संस्करणा, कलकत्ता 1922।

मजूमदार और अल्तेकर वाकाटक गुप्त एज बगरस, 1954

मैक्डोनेल, ए0 ए0 तथ कीथ, ए0 बी वैदिक इन्डेक्स ऑफ नेम्स एंड सब्जेक्टस, दो खंड, लन्दन, 1912।।

मैंती, एस0 के0 इकॅानॅामिक लाइफ ऑफ नार्दन इन्डियन इन द गुप्त पीरियड, कलकत्ता, 1957।

यादवः बी0 एन0 एसः सम एसपेक्ट्स ऑफ द सोसाइटी इन नार्दन इण्डिया इन द टूवेल्थ सेन्चुरी ए0 डी0 इला0 1973.

--सम लैंड ग्रान्ट्स ऑफ द पोस्ट गुप्ता पीरिड्स एण्ड सम एसपिक्ट्स ऑफ द ग्रोथ ऑफ फ्युडल

कॅामप्लेक्स इन नार्दन इण्डिया, "लैंड सम अस्पेक्टस ऑफ द चेजिग आर्डर ड्यूरिंग द शक कुषाण एज, कुषाण स्टडीज सं0, जी0 आर0 शर्मा, पृ 84

द एकाउन्टस ऑफ द कलि एज एण्ड द सोसल ट्रान्जीशन फ्राम एंटीक्यूरी टू द मिडल एज आई0एच0आर0, जि0 5 सं0 1-2, 1978

सिस्टम एण्ड फ्युडलिज्म" कलकत्ता, 1966।

रायचौधरी, एच0 सी0, पॅालिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियेन्ट इन्डिया, छठा संस्करण, कलकत्ता, 1953।

रीजडेविड्स टी0 डब्ल्यू, बुद्धिस्ट इन्डिया, लन्दन, 1905।

विल्सन, एच0 एच0 ग्लॅासरी ऑफ इन्डियन टर्म्स।

विण्टरनित्ज, एम0 हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर (एस0 केतकर का अंग्रेजी अनुवाद) खण्ड 1 तथा 2, कलकत्ता 1927-33

शर्मा, रामशंरण, सम इकॅानॅामिक आसपेक्टस ऑफ द कास्ट सिस्टम इन एन्शियेन्ट इन्डिया, पटना, 1952

शूद्राज इन एन्शियेन्ट इन्डिया, दिल्ली, 1958।

आस्पेक्ट्स ऑफ पॅालिटिकल आइडियाज एंड इन्स्टिट्यूशन्स इन एन्शियेन्ट इन्डिया, दिल्ली, 1959।

-- इन्डियन फ्यूडलिज्म, (लगभग-300-1200), कलकत्ता, 1965।

--लाइट आन अर्ली इन्डियन सोसाइटी एंड इकॅानॅामिक, बम्बई, 1966।

शानिन, टी0, टी0 (सं0) पीजेण्ट एण्ड पीजेण्ड सोसायटीज, पृ0 20

समादार, जे0 एन0 इकानॅामिक कन्डिशन ऑफ एन्शियेन्ट इन्डिया, कलकत्ता, 1922।

सरकार, डी0 सी0, द सक्सेर्स ऑफ द सतवाहानाज इन द लोअर डेक्कन, कलकत्ता, 1939।

सरकार, बी0 के0, पॅालिटिकल इन्स्टिट्यूशन्स एंड थियोरीज ऑफ द हिन्दूज, कलकत्ता, 1939।

सरकार, यू0 सी0, इपोक्स इन हिन्दू लीगल हिस्ट्री, होशियारपुर, 1959।

सांकलिया, एच0 डी0, द ऑर्कलॅाजी ऑफ गुजरात, बम्बई, 1941।

स्मिथ, एडम, द वैल्थ नेशन्स (सं0) ई0 कन्नन, न्यूयार्क, 1904।

स्मिथ, वी0 ए0, अर्ली हिस्ट्री ऑफ़इन्डिया, चतुर्थ संस्करण, ऑकसफोर्ड 1924।

सेन, बी0 सी0, सम हिस्टोरिकल आस्पेक्टस ऑफ द इन्सिक्रप्शन्स ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1942।

श्रीमाली के0 एम0 वैदिक साहित्य में प्रतिबिंबित भारत, पश्चिम भारत का इतिहास दिल्ली यूनिवर्सिटी, 1981।

(5) पत्रिकाएँ स्मृति-ग्रन्थ तथां प्रोसिडिग्स

आर्काईव ओरियन्टली, प्रेग

आर्केलॉजलिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इन्डिया, अनुअल रिपोर्टस।

आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबिली वॉल्यूम्स, 3 खंड तथ 4 भाग, कलकत्ता, 1922-28।

इनक्वायरी, दिल्ली।

इन्डियन एन्टिक्वेरी, बम्बई।

इन्डियन कल्चर, कलकत्ता।

इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता।

एनुअल रिपोर्ट ऑफ द ऑर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया।

के0 वी0 रंगास्वामी आयंगर स्मृति ग्रन्थ, 1940।

जर्नल ऑफ ओरियन्टल रिसर्च, मद्रास।

जर्नल ऑफ द अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी, बाल्टीमोर, मेरीलैंड (यू0 एस0 ए0)।

जर्नल ऑफ द इकॅानॅामिक एंड सोशल हिस्ट्री ऑफ द ओरियन्ट, लीडेन।

जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता।

जर्नल ऑफ द पालि टेक्स्ट्स सोसाइटी, लन्दन।

जर्नल ऑफ द बॉम्बे ब्रॉच ऑप द रायल एशियाटिक सोसाइटी, बमबई।

जर्नल ऑफ बिहार एंड उड़िसा रिसर्च सोसाइटी, पटना।

जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना।

जर्नल ऑफ द न्यूमिस्मेन्टिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, बनारस

जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, लन्दन

जर्नल ऑफ द यूनिवर्सिटी ऑँफ बाम्बे, बम्बई।

जर्नल एशियाटिक, पेरिस।

जे0 एन0 बैनर्जी वॉल्यूम, कलकत्ता, 1960।

डी0 आर0 भंडारकर वॉल्यूम, कलकत्ता, 1940।

प्रोसिड्रिंग्स ऑँफ आल इन्डिया ओरियन्टेल कान्फ्रेन्स।

प्रोसिड्रिंग्स ऑँफ आल इन्डिया हिस्ट्री कांग्रेस।

एस0 के0 आयंगर कँामेमोरेशन वँाल्यूम, मद्रास, 1936।